प्रकाशक
युनिवर्सल प्रेस,
१६ शिवचरनलाल रोड,
प्रयाग

मूल्य १॥)

पं० ज

प्राक्कथन

इस पुस्तक पर 'लेखक' के स्थान पर 'लेखक का नाम, दिया गया है। किन्तु यह 'कृति' तो तीन 'भाषणों' का संग्रहमात्र है। हाँ, यह सत्य है कि ये तीनों भाषण नागपुर विश्वविद्यालय की ओर से 'विशेष-भाषण' के रूप में देने के लिये लिख लिये गये थे; दो भाषण हो चुके, एक अभी तक नहीं हो सका है।

इन तीनों भाषणों में प्राचीन-परम्परा के साथ 'नवीन-व्याख्या' का थोड़ा समन्वय है। आशा है ये व्याख्यान बुद्ध-धर्म-संघ का क, ख, ग तो सिद्ध होंगे ही।

'साहित्य-निकुंज' की ओर से ये व्याख्यान मूल-गन्ध कुटी विहार के वार्षिकोत्सव से पहले प्रकाशित हो सके, यह श्री० जयराम भार्गव की अपनी तनदेही का परिणाम है।

भाई नागार्जुन ने अस्वस्थ रहने के बावजूद प्रूफ देख दिये। उन्हें हार्दिक धन्यवाद।

कार्तिक पूर्णिमा
२७-११-१९४७

आनन्द कौसल्यायन

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

यं किञ्चि रतनं लोके,
विज्जति विविधा पुथु,
रतनं बुद्ध समं नत्थि
तस्मा सोत्थि भवन्तु ते

संसार में जितनी भी नाना प्रकार की मूल्यवान् चीज़ें है, उनमें बुद्ध-रतन ही सर्वश्रेष्ठ है, इसलिये आप सबका कल्याण हो।

य किञ्चि रतनं लोके,
विज्जति विविधा पुथु-
रतनं धम्म सम नत्थि
तस्मा सोत्थि भवन्तु ते

संसार में जितनी नाना प्रकार की मूल्यवान् चीजें हैं, उनमें धम्म-रतन ही सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए आप सबका कल्याण हो।

य किंचि रतन लोके,
विज्जति विविधा पुथु,
रतनं सघ समं नत्थि
तस्मा सोत्थि भवन्तु ते

संसार में जितनी भी नाना प्रकार की मूल्यवान् चीजें है, उनमें सघ-रतन ही सर्वश्रेष्ठ है, इसलिये आप सबका कल्याण हो।

कोई भी अबौद्ध जब बुद्ध-धर्म स्वीकार करता है तो वह सर्वप्रथम कहता है —

बुद्धं सरणं गच्छामि।—[मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ।]
धम्मं सरणं गच्छामि।—[मैं धम्म की शरण जाता हूँ।]
संघं सरणं गच्छामि।—[मैं संघ की शरण जाता हूँ।]

कोई भी बौद्ध-कृत्य हो—चाहे किसी भिक्षु को दान देना हो, चाहे किसी की प्रव्रज्या हो अर्थात् साधु बनना हो, चाहे किसी का अन्तिम सस्कार ही हो, हर समय, हर अवसर पर सर्वप्रथम यह तीन शरण ग्रहण ही आते हैं।

[हम भी तीन दिनों में इन तीनों रतनों की ही चर्चा करेंगे।]

एक दिन बुद्ध-रतन की।
दूसरे दिन धम्म-रतन की।
तीसरे दिन संघ-रतन की।


बुद्ध

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

आज पहला दिन है। पहले दिन हम 'नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स' ही से आरम्भ करते हैं। इस नमस्कार में अन्तिम शब्द है सम्बुद्धस्स...यह चतुर्थ्यांत है—अर्थ है सम्बुद्ध के लिये अथवा बुद्ध के लिये।

यह 'बुद्ध' कोई व्यक्ति-वाचक संज्ञा नहीं है। यह 'बुद्ध' तो एक पद है। एक टाइटल है जिसे कोई भी वह व्यक्ति जो स्वयं मुक्त हो और दूसरों को मोक्ष का रास्ता दिखा सकता हो प्राप्त कर सकता है। बौद्ध-धर्म के अनुसार हम सब बुद्धांकुर हैं ..पोटेंशियली (*Potentially*) बुद्ध है। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो वह 'अवतार' नहीं हो सकता, क्यों कि 'अवतार' तो तभी होगा जब परमात्मा 'अवतार' धारण करेगा। यदि कोई व्यक्ति चाहे कि वह 'परमात्मा का पुत्र' बने तो वह नहीं हो सकता क्योंकि 'परमात्मा का पुत्र' तो वही होगा जिसे परमात्मा वह जन्म-विशेष दे। यदि कोई व्यक्ति चाहे कि वह 'पैगम्बर' हो तो वह पैगम्बर नहीं हो सकता, क्योंकि पैगम्बर तो वही हो सकता जिसे परमात्मा या अल्लाताला अपना पैगाम दे। लेकिन आदमी का बच्चा 'बुद्ध' हो सकता है...दी आल अवेकड वन (*The all awakened one*) हो सकता है, दी आल कॉकरर (*The all conquerer*) हो सकता है। मनुष्यता को इससे बडा आशावाद का संदेश आज तक नहीं मिला।

हम सब बुद्धांकुर हैं, पोटेंशियली (*Potentially*) बुद्ध हैं...इसलिए श्रद्धावान् बौद्ध जब अपनी 'पत्थना' या प्रार्थना में बुद्ध को नमस्कार करता है तो कहता है......

ये च बुद्धा अतीता च ये च बुद्धा अनागता।
पच्चुप्पन्ना च ये बुद्धा अहं वन्दामि सब्बदा॥

[जो अतीत-काल के बुद्ध हो गये हैं, जो वर्तमान-काल में बुद्ध हैं, और जो भविष्यत्-काल में बुद्ध होंगे...मैं सब को प्रणाम करता हूँ।]

पूर्व काल के बुद्ध

सिंहल का इतिहास है—जिसका नाम है महावंश। उसमें लिखा है—पूर्व

काल में हमारे बुद्ध भगवान् ने दीपङ्कर बुद्ध को देख कर संसार को दुःख से छुडाने के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने का संकल्प किया ॥ १-५ ॥

इस प्रकार गौतम बुद्ध ने क्रमशः कौण्डिन्य, मंगल, सुमन, रेवत, सोभित अनोमदर्शी, पद्म, नारद, पद्मोत्तर, सुमेघ, सुजात, प्रियदर्शी, अर्थदर्शी, धर्मदर्शी, सिद्धार्थ, तिष्य, पुष्य, विपश्यी, शिखि, विश्वभू, ककुसन्ध, कोणागमन, और काश्यप, इन चौबीस बुद्धों की आराधना की ॥ ६-१० ॥

बौद्धों के विश्वास के अनुसार यह चौबीस बुद्ध ऐतिहासिक बुद्ध हैं और शाक्य मुनि गौतम-बुद्ध से पहिले हुये हैं। बौद्ध ग्रन्थों में इन चौबीसों का जीवन चरित्र भी दिया रहता है, किन्तु वे सब जीवन-चरित्र शाक्य मुनि गौतम-बुद्ध के ही जीवन के साचे में कुछ ऐसे ढले मालूम होते हैं कि धार्मिक परम्परा भले ही उन सब बुद्धों को बुद्ध-पूर्व-काल के ऐतिहासिक व्यक्ति माने किन्तु सामान्य पाठक की सहज-बुद्धि को वे सब शाक्य मुनि गौतम बुद्ध के बाद की कल्पनायें-मात्र मालूम देते हैं। कुछ भी हो, यदि वे सब बौद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति न माने जाकर इतिहास की कल्पनायें भी माने जायें तो भी उनका मूल्य कम नहीं है क्योकि वे इस मानव को —जिसे मध्ययुग में 'पापोऽहं पापात्माहं' कहना सिखाया गया— यह आशा भरा संदेश देते हैं कि तू भी 'बुद्ध' हो सकता है।

सिद्धार्थ

ऐतिहासिक दृष्टि से यह 'बुद्ध' शब्द शाक्य मुनि गौतम का ही टाइटिल है जो उन्हें बोधि-वृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्त करने के सिलसिले में हासिल हुआ। उनका वास्तविक नाम क्या था ? इस विषय में विवाद है। सामान्य मान्यता है कि नाम था सिद्धार्थ और 'गौतम' गोत्र होने से 'गौतम' कहलाये। नाम के प्रश्न को यदि हमने बहुत महत्व दिया तो सब काम की बातें छूट जायेंगी। इसलिये हम नाम के प्रश्न को यहीं और यूं ही छोड दें। नाम से कुछ बहुत अर्थ सिद्ध नहीं होता, तो भी हम परम्परागत 'सिद्धार्थ' नाम को ही शाक्य मुनि गौतम-बुद्ध के बाल्यकाल का अथवा बुद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व तक का नाम मान लेते है।

सिद्धार्थ, सभी स्कूली पुस्तकों मे लिखा रहता है कि शुद्धोदन महाराजा का पुत्र था। 'महाराजा' क्या मूल त्रिपटक में तो शुद्धोदन के साथ 'राजा' शब्द

भी नहीं--सा ही आया है। यदि शुद्धोदन कोई 'राजा' रहा भी होगा तो भी वह आज के अर्थों में 'राजा' नही रहा होगा। हॉ, अच्छी तरह खाता पीता एक धनाढ्य जमींदार अवश्य रहा होगा।

'सिद्धार्थ' का जन्म--स्थान सौभाग्य से निश्चित है लुम्बिनी बाग, जिसे आज कल रुम्मन देई कहते है। महाराज अशोक का खम्बा जिस पर लिखा है.. हिद भगव जाते? लुम्बिनी के सिद्धार्थ की जन्म-भूमि होने का अकाट्य प्रमाण है।

'सिद्धार्थ' के बारे में लिखा है कि बिना ही पढाये वह पहले से सब कुछ पढे हुये थे। श्रद्धा का आधिक्य होने से हर किसी के बारे में ऐसी कथायें बन जाना स्वाभाविक है।

हम इस में से इतना ही ग्रहण करें कि बालक तीक्षण-बुद्धि रहा होगा।

क्या भगवान् बुद्ध अवतार थे ?

अपने महापुरुषों को हमने अपने से इतना पृथक, इतना दूर हटा दिया है कि वह मनुष्य-योनि के प्राणी न रह कर किसी दूसरी योनि के ही प्राणी मालूम देते है। यू तो ऐसे भी विद्वान् है कि जिनका कहना है कि न भारत में कभी कोई राम थे और न उनकी कोई अयोध्या थी, किन्तु एकाध ही। सामान्य लोगो के लिये भगवान् रामचन्द्र 'ईश्वर के अवतार' थे। अब यदि कोई उनकी किसी अनुकरणीय

---

(१) देवानं पियेन पियदसिन लाजिन वीसति वसाभिसितेन

(२) अतन आगाच महीयिते हिद बुधे जाते सक्यमुनीति

(३) सिला विगडभीचा कालापित सिला थभे च उसपापिते

(४) हिद भगवं जातेति लुंमिनिगामे उबलिके कटे

(५) अठ भागिये चे।

[देवताओं के प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के २० वर्ष बाद स्वयं आकर पूजा की। यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिये यहाँ पत्थर की एक प्राचीर स्थापित की गई और पत्थर का एक स्तम्भ खड़ा किया गया। यहाँ भगवान् जन्मे थे, इस लिये लुंबिनी ग्राम का कर उठा दिया गया और पैदावार का आठवाँ भाग भी उसी को दे दिया।]

बात का उल्लेख कर के कहे कि देखो भगवान् रामचन्द्र ने तो अमुक काम किया था, तो उत्तर मिलता है वह तो 'ईश्वर के अवतार' थे, कर सकते थे, हम मनुष्य थोड़े ही कर सकते है! भगवान कृष्ण ने ऐसा किया? हाँ, वह भी ईश्वर के अवतार थे, ऐसा कर सकते थे, हम ऐसा थोडे ही कर सकते हैं! यदि जो कुछ वे कर सकते थे, हम कर ही नही सकते तो फिर उन चरित्रों को आदर्श चरित्र कहने और मानने से क्या फायदा? भगवान् बुद्ध को भी हम 'नवा अवतार' बनाने से बाज नही आये। बौद्ध किसी अवतार को नही मानते, या यूं कहो कि किसी को अवतार नहीं मानते। वह अवतारवाद नही किन्तु उत्तार-वाद के मानने वाले होते है। यदि यह माना जाय कि अवतार-वाद के अनुसार 'ईश्वर' आदमी बन सकता है, तो फिर यह कहना होगा कि उत्तार-वाद के अनुसार आदमी 'ईश्वर' बन सकता है, आदमी 'बुद्ध' बन सकता है। हम भगवान् 'बुद्ध' कहते है तो उसका यह मतलब नही है कि वे सृष्टि-रचयिता के अर्थों में भगवान् थे, वा विष्णु के अवतार के अर्थों में भगवान् थे। उसका अर्थ इतना ही है कि उनके ज्ञान के कपाट खुल गये थे, उनसे कुछ भी अप्रकट न रहा था और उनके हृदय में ऐसी अद्भुत करुणा, ऐसी अद्भुत मैत्री जागी थी कि कोई भी प्राणी उनकी सहानुभूति से वन्चित न रहा था। वे सम्यक्-सम्बुद्ध थे। तो भी हमे सावधान रहना है कि हम जब भी उनकी चर्चा करें तो उन्हें अपने में से एक समझें। हम कहें कि वह भी कभी हमारे जैसे थे, और हम भी यदि प्रयत्न करें तो उन जैसे हो सकते हैं।

हम उनके जीवन की महानता से इतने अभिभूत न हों कि हमें उनके पास जाते ही डर लगे। ऊँट की और हिमालय की कोई तुलना नहीं। हम ऊँट ही सही और वह हिमालय ही सही। तब भी हिमालय की ऊँचाई का यथार्थ ज्ञान ऊँट को तभी होता है जब वह हिमालय के पास से गुजरता है। हम 'बुद्ध' के जीवन का अध्ययन करें, नजदीक से करें, उन्हें मानवता का सर्व-श्रेष्ठ फूल समझ कर करें 'अवतार' बनाकर न करें। मानव मानव से ही कुछ सीख सकता है, कुछ आदर्श ग्रहण कर सकता है, विचारे 'अवतार' मानव के किस काम के!

बुद्ध का जन्म

'बुद्ध के बारे में आज के बौद्धों के दो विश्वास हैं (१) बुद्ध मध्य-मण्डल में ही पैदा होते हैं, (२) बुद्ध क्षत्रिय-ब्राह्मण वर्ण में ही पैदा होते हैं। मध्य-मण्डल या मध्य देश की पूर्वी सीमा है कजगल (वर्तमान कक्जोल) जिला सथाल पर्गना, बिहार, मध्य में सलिलवती नदी (वर्तमान सिलई नदी, हजारी बाग और मेदिनी पुर जिला, दक्षिण में सेतकरिण कस्बा है, हजारीबाग जिले में कोई स्थान) पश्चिम दिशा में थून नामक ब्राह्मणों का ग्राम है (थानेसर, कर्नाल जिला) उत्तर दिशा में उशीरध्वज (हिमालय का कोई प्रदेश।)

मध्य-मण्डल या आर्यावर्त गगा-यमुना के किनारे की भूमि होने से यूं ही सभ्यता के विकास का केन्द्र रहा है, फिर उसी में बुद्ध पैदा हो गये। तब फिर क्यों न मध्य-मण्डल का महात्म्य बढ जाये। बुद्ध ने मध्य-मण्डल में जन्म ग्रहण कर मध्य-मण्डल को इस योग्य बना दिया कि अब जो भी बुद्ध होंगे, उनका जन्म का स्थान होने का गौरव मध्य-मण्डल में ही किसी न किसी जगह को प्राप्त होगा।

और क्षत्रिय ब्राह्मण वर्ण भी पहले से ही सम्मान्य थे। बुद्ध ने चारो वर्णों की समानता का प्रतिपादन किया और जोर से किया। लेकिन तो भी, बौद्धों की दृष्टि में भी क्षत्रिय-ब्राह्मण वर्ण अभिजात-वर्ण बने ही रहे। ऐसी हालत में स्वाभाविक था कि बौद्ध अपने बुद्धो पर यह प्रतिबन्ध लगा दें कि वह क्षत्रिय-ब्राह्मण कुल में ही पैदा होगे।

मुझे, जैनों ने अपने तीर्थंकरो पर जो प्रतिबन्ध लगाया है वह, अच्छा लगता है कि वह ब्राह्मण-वर्ण मे कभी पैदा नही होंगे। उस प्रतिबन्ध में ब्राह्मणी-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह है और स्पष्ट है।

सिद्धार्थ का गृहत्याग

सिद्धार्थ के गृह-त्याग की कथा से कौन साक्षर भारतीय अपरिचित है? वह तो प्रत्येक देश के पठित समाज के अन्तस्तल में घर किये है। ऐसा लगता है कि किसी बात के व्यापक प्रचार के लिये किसी घटना का ऐतिहासिक होना उतना आवश्यक नहीं जितना उसमें सर्वजनहितकारी मानवी अपील का होना। २६ वर्ष

तक की आयु तक के किसी एक तरुण ने न कभी किसी बूढ़े को देखा हो, न रोगी को और न किसी मृत व्यक्ति को यह बात ऐतिहासिक नहीं लगती। अपेक्षाकृत प्राचीन ग्रन्थो को देखने से बुद्ध के गृह-त्याग का यही कारण भी नही मालूम देता। तो भी बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के पीछे, बुद्ध की इस गृह-त्याग की कथा के पीछे जो सचाई है वह तो ऐसा लगता है कि देश काल के बन्धन से परे की चीज है। हम प्रायः आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक पराधीनता की चर्चा करते रहते है। अब इस पराधीनता को हम क्या नाम दें कि हम पैदा होना चाहें या न चाहें किन्तु हम पैदा होने पर मजबूर हैं, बूढ़े होने पर मजबूर हैं; हम रोगी होना चाहें या न चाहें किन्तु हम रोगी होने पर मजबूर है, और तो और हम मरना चाहें या न चाहें किन्तु हम मरने पर मजबूर है।

मै कहता हूँ दुनिया की सारी पराधीनतायें एक तरफ और यह एक मजबूरी एक तरफ। सभी वैज्ञानिको ने हमारा ध्यान किसी न किसी एक बात की ओर आकर्षित किया है, किन्तु जिस महान्-वैज्ञानिक ने—वह कोई भी हो—हमारा ध्यान जाति-जरा-मरण के बन्धन और उन से मुक्ति के उपायो की ओर आकर्षित किया। मैं उससे बडे फिर किसी दूसरे वैज्ञानिक की कल्पना नहीं कर सकता।

जीवन में प्रश्न—विकट प्रश्न—सभी के सामने आते है। किन्तु हममे से कितने हैं जो किसी एक प्रश्न को हल करने के पीछे पड जाते है। न्यूटन को न्यूटन किसने बनाया? पृथ्वी की ओर गिरते हुये एक सेब ने, और इस प्रश्न ने कि वह पृथ्वी ही की ओर क्यों गिरता है? और जेम्स वाट को इजिन का आविष्कारक एक चूल्हे पर रखी हुई पतीली के हिलते हुये एक ढक्कन ने ही तो बनाया। बडी घटनायें किसी को बडा नहीं बनाती। छोटी घटनाएँ ही बडे आदमियो को बडा बनाती है, और बडे आदमी का सारा बडप्पन इस एक बात में छिपा रहता है कि वह छोटी से छोटी बात को भी तुच्छ नहीं समझता। सिद्धार्थ ने भी परम्परा के अनुसार जरा, व्याधि और मृत्यु जैसी सर्व परिचित बातो को जीवन का महान् प्रश्न बना कर खडा कर दिया। और उस प्रश्न का हल ढूढ़ने के लिये वह पिता, पुत्र, स्त्री, राज्य सब कुछ छोडने को तैयार हो गया। त्याग, महान् त्याग—हाँ 'त्याग' ही शांति का रास्ता है। लेकिन कहने वाले कह देते हैं कि वह बडा ही

दारुण हृदय था जो अपने परिवार को इस प्रकार छोड़ कर चला गया। हाँ, महान् विभूतियाँ जहाँ कुसुम से भी कोमल होती हैं, वहाँ वज्र से भी कठोर होती ही हैं। लेकिन कठोर किस के प्रति ? अपने प्रति। हम एक किताब के बारे में कह देते हैं कि हम जो किताब को प्यार करते है वह किताब के लिये नहीं, कितु अपने ही लिये किताब को प्यार करते है; कुत्ते को कुत्ते के लिये नहीं किन्तु अपने ही लिये प्यार करते हैं। परन्तु यदि यही बात कोई अपनी भार्या के बारे मे कहे कि वह उसे अपने ही लिये प्यार करता है तो अनर्थ हो जायेगा। बात कितनी भी अप्रिय लगे किन्तु सच्ची बात यही है कि पति पत्नी को अपने लिये प्यार करता है और पत्नी पति को अपने लिये। यदि मान ही लिया जाय कि सिद्धार्थ बड़ा दारुण-मनस्वी था तो वह दारुण अपने ही प्रति था। क्या हम अपने अज्ञान को दूर करने के लिये वा किसी का कुछ कल्याण ही करने के लिये इस प्रकार का कठोर आचरण कर सकते है ? नहीं ही।

सिद्धार्थ अपने साईस छन्नक को लेकर कन्थक की पीठ पर रोहिणी नदी पार करता है और अपने केश आदि काट कर घर से बे-घर हो जाता है। पटने के पास गगा पार कर जब वह राजगृह में भिक्षा माँगने निकलता है तो उस घड़ी मानव-साहित्य का एक अत्यन्त करुण पृष्ठ लिखा जाता है। 'सुत्त-निपात' के 'प्रव्रज्या सूत्र' में लिखा है कि जिस समय सिद्धार्थ राजगृह में प्रविष्ट हो भिक्षा के लिये निकले तो सारा नगर बोधिसत्व के रूप को देख असुरेन्द्र से प्रविष्ट देव नगर की भाँति सक्षुब्ध हो गया। राजपुरुषों ने जाकर राजा से कहा—"देव ! इस रूप का एक पुरुष नगर मे मधूकरी माँग रहा है, वह 'देव' है या 'मनुष्य,' 'नाग' है या 'गरुड़' ? कौन है हम नहीं जानते।"

राजा ने महल के ऊपर खडे हो, महापुरुष को देख कर आश्चर्यान्वित हो कहा—

'जाओ, देखो यदि गरुड होगा तो नगर से निकल कर अतर्धान हो जायगा। यदि देवता होगा तो आकाश से चला जायगा। यदि नाग होगा, तो पृथ्वी मे डुबकी लगा कर चला जायगा। यदि मनुष्य होगा तो मिली हुई भिक्षा का भोजन करेगा।"

महापुरुष ने अपने लिये पर्याप्त भोजन संग्रह हुआ जान, ले जाकर पाण्डव पर्वत की छाया में पूरब-मुँह बैठ भोजन करना आरम्भ किया। इस जन्म में ऐसा भोजन कभी आँख से भी न देखा था। उनकी आँतें उलट कर मुँह से निकलती हुई सी मालूम पड़ीं। तब उस प्रतिकूल भोजन से दुखित हुए सिद्धार्थ ने अपने आप को समझाया—

"सिद्धार्थ! तू अन्नपानसुलभ कुल में—तीन वर्ष पुराने सुगन्धित चावल का भोजन नाना प्रकार के अत्युतम रसों के साथ भोजन किये जाने वाले स्थान में—पैदा होकर भी एक गुदरीधारी भिक्षु को देख कर सोचता था—कि मैं भी कब इसी तरह भिक्षु बनकर भिक्षा माँग भोजन करूँगा। क्या वह भी समय होगा? और यही सोच कर घर से निकला था। अब यह क्या कर रहा है?"

साधक की ईमानदारी का ऐसा सच्चा चित्र कम देखने को मिलेगा।

राजा बिम्बसार को पता लगा तो उसने पीछा किया। सिद्धार्थ की चर्य्या से प्रसन्न हो उसने सिद्धार्थ को सभी ऐश्वर्य देकर राजगृह मे ही रखना चाहा। किन्तु सिद्धार्थ ने कहा - जिस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये गृह-त्याग किया है, बिना उसे प्राप्त किये चैन नहीं लेना चाहता।

सिद्धि की चका-चौंध मे हम साधना को भूल जाते है। साधना से ही सिद्धि होती है। इसलिये हमें चाहिये कि हम जितना भी अधिक देख सके सिद्धार्थ की साधना को देखें।

बुद्धत्व-प्राप्ति

सिद्धार्थ ने क्रमशः विचरण करते हुये आलार-कालाम तथा उद्दक राम पुत्र के पास समाधि सीखी। यह समाधि थी श्वास-प्रश्वास का व्यायाम मात्र। सिद्धार्थ को तो चाहिये था ज्ञान। उसने कायक्लेश का—तपश्चर्य्या का—रास्ता अपनाया। शत्रु पर काबू पाना हो तो उसे कमजोर कर देना चाहिये। निर्बल इन्द्रियाँ आसानी से वशीभूत की जा सकती हैं। यही समझ कर प्राय. सभी सम्प्रदायों द्वारा काय-दण्ड का रास्ता अपनाया जाता रहा है। सिद्धार्थ ने भी दुष्कर तपस्या आरम्भ की। लिखा है "वह दुष्कर तपस्या करते हुये अक्षत तिल-

तण्डुल से कालक्षेप करने लगे। पीछे आहार ग्रहण करना भी छोड दिया। निराहार से वे बहुत दुबले हो गये। उनका कनक-वर्ण शरीर काला हो गया। एक बार श्वास रहित ध्यान करते समय बहुत ही क्लेश से पीडित एव बेहोश हो टहलने के चबूतरे पर गिर पडे।'' अब क्या शरीरांत हो जाता, तब सिद्धि प्राप्त होती। सिद्धार्थ ने निश्चय किया कि यह ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग नहीं है। तब वह भिक्षाटन कर खाने लगे। उनकी तपश्चर्या चलती थी तो पाच साधु उनके तपस्वीपन के प्रभाव में उनकी सेवा-सुश्रूषा में लगे रहते थे। जब उन्होंने देखा कि सिद्धार्थ ने आहार-ग्रहण कहना आरम्भ कर दिया तो वह उसे तप-भ्रष्ट समझ छोडकर चल दिये। उनका कहना था कि जब यह निराहार रहकर कुछ भी लाभ न कर सका तो अब खा पीकर क्या लाभ करेगा। उन्हें क्या मालूम जिसे वह पथ-भ्रष्ट होना समझते थे, वही सच्चा रास्ता था। जिसे वह तपस्या का त्याग समझते थे, वही सच्ची तपस्या थी। सच्ची तपस्या शरीर सुखाने में नहीं है किंतु अपने अनुभव से जो बात गलत सिद्ध हो, जो धारणा मिथ्या प्रतीत हो उसे छोडने के लिये हर घडी उद्यत रहने में है। सिद्धार्थ ने वही किया। तजर्बा करना ही एक मात्र ज्ञान-प्राप्ति का साधन है। सिद्धार्थ ने वही मार्ग ग्रहण किया था। लेकिन तजर्बा करने में स्थायित्व चाहिये, सतत करने का भाव चाहिये। सिद्धार्थ ने उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया, जिस समय वह बोधि-वृक्ष के नीचे यह निश्चय करके वज्रासन लगाकर बैठे कि चाहे मेरा चमडा, नसें, हड्डी ही क्यों न बाकी रह जाय; चाहे शरीर, मास, रक्त क्यों न सूख जाये, तो भी सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त किये बिना इस स्थान को नहीं छोडूगा। ऐसा निश्चय करना सरल नही और उस निश्चय पर दृढ रहना तो और कठिन। राग-दोष, मोह से पैदा हुई नाना प्रकार की चित्तवृत्तियों ने सिद्धार्थ को अपने निश्चय से डिगाना चाहा; किन्तु वह तो वज्रासन लगये बैठा था। मार से युद्ध हुआ। पापी मार पराजित हुआ। सिद्धार्थ सच्चे अर्थ में सिद्ध-अर्थ हो गये, वह शक्यमुनि गौतम बुद्ध हो गये। उस समय उनके मुँह से एक उल्लास-वाक्य, एक उदान निकला—

अनेक जाति ससार सन्धाविस्स अनिब्बिस
गहकारकं गवेस्सन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुन

गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखित
विसंखारगत चित्त तण्हान खयमज्झगा ?

[अनेक जन्मों तक मैं लगातार दौडता रहा । किस लिये ? गृहकारक को ढूढते हुये—इस जन्म-मरण के कारण को ढूढते हुये । जन्म-मरण के कारण का ज्ञान हो गया । अब फिर जन्म नही होगा । हे गृहकारक ' तेरी सब कडिया टूट गई हैं, शिखर ढह गया है, चित्त संस्कार-रहित हो गया, तृष्णा का नाश हो गया ।]

इस उदान-वाक्य में कहा गया है अनेक जन्मों तक मै लगातार दौडता रहा । बनस्पतिशास्त्रज्ञ कहते हैं कि किसी एक पुष्प को, उसकी जाति को, अस्तित्व में आने के लिये लाखों वर्ष लगे होंगे । तो क्या यह बुद्धत्व – यह मानवता का पुष्प आदमी के जीवन के केवल साठ-सत्तर वर्षों में पुष्पित हो सकता था ? निस्सन्देह अनेक जन्मों के सतत परिणाम का ही यह फल रहा होगा ।

जिस दिन सिद्धार्थ बुद्धत्व को प्राप्त हुए वह दिन मानवता का कल्याण-दिवस था, मानवता का विजय-दिवस था; क्योंकि एक मनुष्य अपने प्रयत्न से और केवल अपने प्रयत्न से ऐसे ऊँचे शिखर पर चढने में सफल हो गया था, जहाँ प्रयत्नवान् होने से कोई भी चढ सकता है, लेकिन जिससे और ऊँचे की कोई कभी आशा नहीं कर सकता, आकाक्षा नहीं कर सकता ।

सिद्धार्थ के चित्त के सभी मैल धुल गये थे । वह निर्मल हो गया था । सिद्धार्थ की बुद्धि पर से सभी आवरण दूर हट कर वह ज्ञानी हो गया था—बुद्ध, सम्यक् सम्बुद्ध ।

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

जिस वृक्ष की छाया में भगवान बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया उसकी एक शाखा अशोक-पुत्री सघमित्रा सिंहल ले गई थी । वह वहाँ ले जाकर अनुराधपुर में रोप दी गई । ससार में आज वहीं सबसे पुराना ऐतिहासिक वृक्ष है । लका में उस बोधि वृक्ष का नाम बडे ही आदर से लिया जाता है – जय श्री महाबोधि ।

कुछ सप्ताह तक सिद्धार्थ बुद्धत्व के आनन्द में मग्न रहे। अब वे चिन्ताओं से मुक्त थे किन्तु चिन्तन से तो नहीं। उन्होंने विचार किया कि जिस ज्ञान को उन्होंने प्राप्त किया है वह ज्ञान दूसरों तक पहुँचाने में जो श्रम होगा वह निष्फल तो नहीं जायगा? क्योंकि उन्हें दिखाई देता था कि उनके आस-पास सभी लोग काम-भोग के जीवन में रत हैं और उसी में मस्त हैं। उन्हें अपना धर्म बड़ा ही सूक्ष्म मालूम देता था, और था ही बड़ा सूक्ष्म। हम लोगों के सौभाग्य से ब्रह्मा ने—चित्त की कल्याणवृत्ति ने—विजय पाई और भगवान् बुद्ध ने संसार के कल्याणार्थ उपदेश देना स्वीकार किया।

धर्मचक्र प्रवर्तन

वह सर्वप्रथम सारनाथ, बनारस पहुँचे। वहीं वे पाँच साधु थे जो उन्हें पथ-भ्रष्ट समझ छोड़ आये थे। बुद्ध ने उन्हें ही अपने पहले उपदेश का अधिकारी समझा। पाँचों साधुओं ने भगवान् बुद्ध को आता देखा तो उनकी अवहेलना करने का संकल्प किया, लेकिन वह कुछ देर भी न टिका।

भगवान् बुद्ध ने उन्हें कहा कि जब तक मुझे ज्ञान प्राप्त नहीं था मैंने कभी नहीं कहा कि मुझे ज्ञान-प्राप्त है, अब प्राप्त है इसीलिये कहता हूँ कि ध्यान देकर सुनो। विश्वास की यह वाणी कैसे प्रभाव न डालती? भगवान् बुद्ध ने उन्हें जो उपदेश दिया वह धर्म-चक्र प्रवर्तन सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। उसका सार है—

"भिक्षुओं! इन दो अन्तों (अतियों) का कभी भी सेवन नहीं करना चाहिये। कौन से दो? यह जो हीन, ग्राम्य, पृथग्जनों, अज्ञानी मनुष्यों के योग्य, अनार्य-जन-सेवित अनर्थ-कर, काम वासनाओं में लिप्त रहने का जीवन है, और यह जो दुःखमय, अनार्य-जन-सेवित अनर्थ-कर कायक्लेश का जीवन है। भिक्षुओ! इन दोनों ही अन्तों से न जाकर तथागत ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, जो आँख देने वाला है, जो ज्ञान कराने वाला है, जो शान्ति के लिये है, जो अभिज्ञा के लिये है, जो सम्बोधि के लिये है, जो निर्वाण के लिये है। कौन सा है वह मध्यम-मार्ग जो तथागत ने खोज निकाला है? यही आर्य अष्टांगिक मार्ग है—सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाणी, सम्यक्-कर्म, सम्यक्-जीविका, सम्यक्-

व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक्-समाधि। भगवान ने इस अवसर पर दुःख और दुःख के निरोध का उपदेश दिया। उनका कहना था कि "भिक्षुओ, मैं दो ही चीज़ें सिखाता हूँ—दुःख और दुःख से मुक्ति।"

बुद्ध ने २९ वर्ष की आयु में गृह-त्याग किया था, छः वर्ष तक तरह तरह की साधना में लगे रहे। ३५ वर्ष की आयु में ज्ञान प्राप्त किया। ३५ वर्ष की आयु से ८० वर्ष की आयु तक पूरे ४५ वर्ष का शेष जीवन लोक-कल्याण में ही बीता। अपने वचन और कर्म से संसार में किसी एक आदमी ने लोक में इतनी सद्भावनाओं का संचार नही किया जितना बुद्ध ने।

सुना है कि इटली का कोई पादरी जीसस क्राइस्ट के बारे में व्याख्यान दे रहा था। मुसोलिनी उस समय विद्यार्थी था। उससे न रहा गया। वह अन्तिम बेंचपर खड़ा हुआ और बोला—क्या कहते हो बार-बार जीसस क्राइस्ट के बारे में, जिसकी मिनिस्ट्री कुल तीन साल रही। हिन्दुस्तान में एक बुद्ध हो गया है जो पैंतालीस वर्ष तक लोक-कल्याण का जीवन व्यतीत करता रहा।

बुद्ध ने सारनाथ, बनारस में जब अपना धर्म-चक्र चलाया तो वह पाँचों परिव्राजक उनके भिक्षु-सङ्घ के प्रथम सदस्य हो गये। धीरे-धीरे काशी के अन्य तरुण उस भिक्षु-मण्डली को बढ़ाने लगे। किसी भी नये जीवन-सन्देश को सदा से तरुण ही तो अपनाते आये हैं। एक बार पचास जने एक साथ ही बुद्ध, धर्म, सङ्घ की शरण गये जब उन सब की संख्या इकसठ हो गई, तो भगवान बुद्ध ने उन्हें सम्बोधित कर कहा चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदि कल्याण मज्झकल्याण परियोसानकल्याण सात्थ सव्यजनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्म-चरियं पकासेथ।

[भिक्षुओ! सर्वसाधारण के हित के लिये, लोगों को सुख पहुँचाने के लिये, उन पर दया करने के लिये, तथा देवताओं और मनुष्यों का उपकार करने के लिये घूमो। भिक्षुओ, आरम्भ, मध्य और अन्त सभी अवस्थाओं में कल्याणकारक धर्म का, उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य्य का प्रकाश करो।]

क्या बुद्ध धर्म लोकोत्तर है ?

भगवान बुद्ध ने जो धर्म-चक्र चलाया उसकी विशेषता है कि बिना एक भी बूँद रक्त बहाये वह धर्म-चक्र ससार भर में व्याप्त हो गया ।

उन्हीं के धर्म को अपनाने वाले महाराज अशोक ने कलिंग-विजय के बाद धर्म-राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया था । युद्ध में हारकर युद्ध में विरत होने वाले राजाओं की संसार में कमी न होगी; किन्तु युद्ध में जीतकर युद्ध से विरत होने वाला शायद एक ही राजा हुआ है—और वह देवानां-प्रिय अशोक ।

बुद्ध के जीवन और उपदेश के ज्ञान के लिये त्रिपिटक का अध्ययन आवश्यक है । जो लोग मूल पाली न देख सकते हों—वे राहुल सांकृत्यायन की बुद्धचर्या पढ़ें । बुद्ध और उनके उपदेशों के बारे में हमारा ख्याल है कि ठीक उस तरह की किताब हिन्दी में ही है । अँग्रेजी में वारैन की 'बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन' भी कुछ कुछ उसी ढङ्ग पर सम्पादित की गई है ।

भगवान बुद्ध का धर्म सचमुच लोकोत्तर था । किन्तु श्रद्धा के आधिक्य ने उन्हें भी लोकोत्तर बना डाला । एक जगह लिखा है कि आनन्द—भगवान बुद्ध के पर्सनल सेक्रेटरी—उनकी पीठ दबा रहे थे । तब आनन्द ने कहा कि भगवान् ! अब इस शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई हैं । भगवान बोले—"हाँ आनन्द ! मेरा शरीर भी जन्म, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु के अधीन है ।" किन्तु बाद के अट्ठकथाचार्यों का कहना है कि भगवान् के शरीर को बुढापा नहीं व्यापता, वह तो केवल आनन्द को वैसा प्रतीत हुआ था ।

हम भगवान के धर्म को अलौकिक, असाधारण भले ही मानें किन्तु उनके शरीर को तो लौकिक ही मानना होगा ।

कुशीनगर में दो शाल-वृक्षों के बीच अस्सी वर्ष की आयु में भगवान् का परिनिर्वाण हुआ । दीर्घ-निकाय के महापरिनिर्वाण सूत्र में भगवान बुद्ध के अन्तिम दिनों की कथा बड़े विस्तार से दी गई है ।

बुद्ध के अन्तिम दिन

कुशीनगर पहुँचने से कुछ समय पूर्व जब वे वैशाली में थे तो उन्हें

संग्रहणी की बीमारी हो गई थी। वहाँ से ठीक होकर ही वह कुशीनगर—वर्तमान कुशीनारा आये थे। वहाँ उनके एक चुन्द उपासक ने उन्हें सूकर—मद्दव खिलाया। सूकर मद्दव क्या था? यह विवाद-ग्रस्त विषय है। सूअर के बच्चे का मास और किसी एक प्रकार की जड़ दोनों किया जाता है। दोनों हो सकता है। चुन्द का वह अन्तिम भोजन भगवान को प्राणघातक सिद्ध हुआ। अपनी असीम मानव सहानुभूति के कारण भगवान ने कहा—"आनन्द! यदि चुन्द को अनुताप हो कि मेरा भोजन उस भोजन के समान है जिसे खाकर भगवान् बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त हुआ था।"

आनन्द ने जब यह देखा कि वह भुवन-प्रदीप जिसके प्रकाश से उसका ही नहीं समस्त लोक का मार्ग प्रकाशित हो रहा है बुझने जा रहा तो उसे मोह हो आया। आनन्द एक ओर जाकर रोने लग गया—"हाय! मैं शैक्ष हूँ-सरकरणीय हूँ। और जो मेरे अनुकपक शास्ता है, उनका परिनिर्वाण हो रहा है।"

भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—"भिक्षुओं! आनन्द कहाँ है?"

"यह भन्ते! आयुष्मान् आनन्द विहार में जाकर रोते खड़े हैं।"

"आ भिक्षु! मेरे वचन से तू आनन्द से कह—आवुस आनन्द! शास्ता तुझे बुला रहे हैं।"

"अच्छा भन्ते!"

आयुष्मान आनन्द जहाँ भगवान् थे वहाँ जाकर अभिवादन कर एक ओर बैठे। आयुष्मान आनन्द से भगवान् ने कहा—

"नहीं आनन्द! मत शोक करो। मत रोओ, मैंने तो आनन्द, पहिले ही कह दिया है—सभी प्रियों-मनापों से जुदाई होती है, सो यह आनन्द कहाँ मिलने वाला है। जो कुछ जात, उत्पन्न, भूत, सस्कृत है, सो नाश होने वाला है। हाय! वह नाश न हो वह सम्भव नहीं। आनन्द! तू ने दीर्घकाल तक अप्रमाण

मैत्री पूर्ण कायिक-कर्म से तथागत की सेवा की है। मैत्री-पूर्ण मानसिक-कर्म से आनन्द ! तू कृतपुण्य है। प्रयत्न में लग। शीघ्र ही अनास्रव हो जा।"

भगवान् ने अन्तिम समय आनन्द को सम्बोधित किया—"आनन्द ! शायद तुमको ऐसा हो कि यह प्रवचन तो अतीत-शास्ता के हैं। अब हमारे गुरु नहीं रहे हैं। आनन्द ! ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किये हैं मेरे बाद वही तुम्हारे गुरु है। मेरे बाद वही तुम्हारे शास्ता हैं।"

"आनन्द ! जैसे आज कल भिक्षु एक दूसरे को 'आवुस' कह कर पुकारते हैं मेरे बाद ऐसा कहकर न पुकारें। आनन्द ! स्थविरतर ज्येष्ठतर भिक्षु उपसपदा के दिनों के हिसाब से नवक-तर (छोटे) भिक्षु को नाम से या गोत्र से या 'आवुस' कहकर पुकारे। नवकतर भिक्षु स्थविरतर को 'भन्ते' या 'आयुष्मान' कह कर पुकारे।

"इच्छा होने पर सघ मेरे बाद क्षुद्र-अनुक्षुद्र छोटे-मोटे नियमों को छोड दे सकता है।"

"आनन्द ! मेरे बाद छन्न भिक्षु को ब्रह्म-दण्ड करना चाहिये।"

"भन्ते ! ब्रह्म-दण्ड क्या है ?"

"आनन्द ! छन्न भिक्षुओं को जो चाहे सो कहे, भिक्षुओं को उससे न बोलना चाहिये, न उपदेश-अनुशासन करना चाहिये !"

इसके बाद भगवान् ने सभी भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—

"भिक्षुओं, यदि बुद्ध, धर्म, संघ में एक भिक्षु को भी कुछ शका हो, तो पूछ लो। भिक्षुओ, पीछे अफसोस मत करना शास्ता हमारे सम्मुख थे, किन्तु हम भगवान् के सामने कुछ पूछ न सके।"

किसी एक भिक्षु को भी कोई एक शका न थी।

तब भगवान् ने भिक्षुओं को फिर आमन्त्रित किया..."हन्त ! भिक्षुओ, अब तुम्हें कहता हूँ संस्कार नाशवान् हैं। अप्रमादी बने रह कर जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करो। यही तथागत के अन्तिम बचन हैं।"

उनके शरीर की पवित्र-हड्डी, जिसे धातु कहते हैं, उनके शरीर की दाह-क्रिया के अनतर सात आठ प्रतिद्वन्दी श्रद्धालुओं में वितरित हुई। उन पर स्तूप बने

किसी एक स्तूप में से प्राप्त तथागत की शरीर-धातु सारनाथ (बनारस) के मूल गन्ध कुटी विहार में आज भी विद्यमान् है।

आप उनका दर्शन करना चाहें तो वर्ष में एक बार कातिक पूर्णिमा को प्रायः नवम्बर महीने में मूल गंध कुटी विहार के वार्षिकोत्सव के अवसर पर कर सकते हैं।

भगवान बुद्ध ने कहा था कि जो मेरे धर्म को देखता है वह मुझे देखता है। वे स्वय धर्म की साक्षात मूर्ति ही तो थे।

तथागत की विशेषता

उनके स्वभाव की जो सब से बडी विशेषता [illegible]खाई देती है वह है उनकी स्वनिरपेक्षता।

राहुल-माता ने राहुल को कहा कि जा अपने पिता से अपना दायाद मांग। राहुल पीछे पीछे हो लिया। उसे अपने पिता से क्या दायाद मिला? बुद्ध ने अपने एक मात्र पुत्र के हाथ में भी वही भिक्षा-पात्र थमा दिया और उसे भी अपनी तरह दरदर का भिखारी बना दिया।

किसी ने पूछा कि क्या आप के शिष्य आपका अनुकरण करते हैं। उत्तर दिया—कुछ करते हैं, कुछ नहीं करते हैं। प्रश्नकर्ता ने पूछा—यह कैसी बात है कि आपके शिष्य भी आप का अनुकरण नहीं करते? बुद्ध ने उत्तर दिया—मेरा काम केवल रास्ता दिखा देना है, उस पर चलना न चलना उनका काम है।

अन्त समय में जब भिक्षुसघ को आशा थी कि शास्ता शायद उनके लिये अपना कुछ उपदेश अथवा अपना कोई उत्तराधिकारी ही छोडेंगे तब शास्ता ने कहा भिक्षुओं मुझे तो स्वप्न में भी कभी यह नहीं हुआ कि मैं भिक्षु-सघ का परिहरण करता हूँ और सघ मेरे ही आश्रय है।

क्या यह दोनों-तीनो बातें तथागत की अलौकिक स्वनिरपेक्षता के प्रमाण नही है?

कोई यह न समझे कि वे संसार से ऐसे उदासीन थे कि संसारियों के सुख-

दुख की उन्हें कोई चिन्ता न थी। नहीं, वे तो इसके सर्वथा विपरीत करुणा की साक्षात मूर्ति थे।

उस दुखिया किसान गौतमी की कथा प्रसिद्ध है, जिसके बच्चे को तथागत ने जिला देने की बात कही थी, यदि केवल वह किसी ऐसे घर से जिसमें कोई मरा न हो, तिलों की एक मुट्ठी ला सके।

और उस रोगी भिक्षु की भी कथा प्रसिद्ध ही है जिसकी भगवान् ने अपने हाथ से सेवा की थी।

और उस भूखे किसान की जिसे उपदेश देने से पहले भोजन भगवाकर खिलाया था।

निरपेक्षता और मानवीय सहानुभूति दो विरोधी गुण मालूम देते हैं। तथागत में दोनों विद्यमान थे और अपनी पराकाष्ठा में।

भगवान् बुद्ध की परम्परा-प्राप्त स्तुति से ही हम समाप्त करते हैं.

इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो, विज्जाचरणसम्पन्नो, सुगतो, लोकविदू, अनुत्तरो, पुरिसदम्म, सारथी, सत्था देवमनुस्सान, बुद्धो भगवाति।

[वे भगवान् अर्हत हैं, सम्यक् संबुद्ध हैं, विद्या और आचरण से युक्त सुगतिप्राप्त हैं, लोकज्ञाता हैं, अनुपम हैं, पुरुषों के धर्म-सारथी हैं, मनुष्यों के ही नहीं देवताओं के भी शास्ता हैं, बुद्ध हैं, भगवान्।

धर्म

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

आज से २० वर्ष पहले जब मैंने सिंहल में प्रव्रज्या और उपसम्पदा ग्रहण की तो मुझे त्रिपिटक के सामने प्रणाम करने के लिए कहा गया। मेरे मुँह से निकल गया—यह तो पढने की चीज है, प्रणाम करने की नहीं। हाँ, पढने की चीज, केवल प्रणाम करने की नहीं। श्रद्धा पूर्वक पढने की किन्तु साथ ही आँख खोलकर पढने की।

इस धर्म-रत्न के बारे में जब से यह प्रगट हुआ है तभी से हम कहते आये हैं स्वाक्खातो भगवता धम्मो सदिट्ठिको, अकालिको, एहिपस्सिको, ओपनयिको, पच्चतवेदितब्बो, विञ्ञूहीति।

[यह भगवान् द्वारा सम्यक् प्रकार आख्यात है। सम्यक प्रकार कहा गया है, यह सांदृष्टिक धर्म है, इसी लोक में फल देने वाला है। यह समय के बन्धन से मुक्त है, इसके बारे में कहा जा सकता है कि 'आओ और स्वय परीक्षा कर लो,' यह ऊपर उठाने वाला है, यह विज्ञ पुरुषों द्वारा आत्म-वेदनीय है, कोई भी बुद्धिमान् आदमी इसका स्वय साक्षात् कर सकता है।]

पालि

जहाँ तक इस धर्म की भाषा की बात है वह पालि अथवा मागधी है। श्रद्धावानों का मत है कि आदि-कल्प में मनुष्य जाति इसी भाषा में बोलती थी। आप और हम में इतनी श्रद्धा नहीं कि हम यह मान सकें कि आदि-कल्प में मानव हमारी इस मागधी में ही बात-चीत करता था किन्तु साथ ही इतनी प्रज्ञा भी कहाँ है कि यह कह सकें कि किस भाषा में बात-चीत करता था? इसलिये हम तथागत के इस वचन को ही शिरोधार्य-करते हैं कि पुब्बाकोटि न पञ्ञायति अर्थात् आरम्भ का सिरा नहीं दिखाई देता।

पालि अथवा मागधी एक ही भाषा है, अथवा दो भिन्न भाषायें हैं? त्रिपिट की भाषा और अशोक के शिला-लेखों की भाषा में तो अन्तर है। अब यदि हम पहली को पालि और दूसरी को मागधी कहें तो दोनों एक किस प्रकार से हुई? पाली में केवल दन्त्य 'स' आता है मागधी में 'श' ही है, दूसरी ओर

पाली मे 'राजा' होता है तो शिला-लेखों में 'लाजा' हो जाता है। फिर पाली में प्रथमा विभक्ति में 'ओ' होता है, शिला-लेखो में 'ए' होता है।

इस प्रकार उनकी दृष्टि में त्रिपिटक का मागधी होना सन्दिग्ध है। त्रिपिटक भारत में नहीं लिखा गया। यदि लिखा गया तो वह प्राप्य नहीं है। महा-वश के अनुसार त्रिपिटक पहले पहल प्रथम शताब्दी में राजा वट्टगामणी के समय सिंहल में लिखा गया। क्या सिंहल में लिखे जाने से मागधी में दो-चार अक्षरों का परिवर्तन नहीं हो सकता? फिर अशोक के पूर्वी शिला लेखों में और पाली में कोई भेद नहीं। इस प्रकार बुद्ध-वचन पालि में है, अथवा मागधी में है—जो कहो ठीक है।

प्राकृत अथवा जैनों की आर्य-मागधी पालि की अपेक्षा संस्कृत से दूर है। प्राकृत में 'शकुन्तला' का 'सौन्दले' हो जा सकता है, किन्तु पाली में 'सकुन्तला' भर ही होगा। कोई भी सस्कृतज्ञ थोड़े ही समय में पालि से परिचित हो सकता है।

त्रिपिटक

पालि वांङ्मय में त्रिपिटक का विस्तार इस प्रकार है...

(१) सुत्त-पिटक निम्नलिखित पाँच निकायों में विभक्त है...

(१) दीघनिकाय (२) मंज्झिमनिकाय (३) संयुत्तनिकाय (४) अगुता-निकाय (५) खुद्दकनिकाय।

खुद्दकनिकाय के १५ ग्रन्थ हैं

(१) खुद्दक पाठ (२) धम्मपद (३) उदान (४) इतिवुत्तक (५) सुत्तनिपात (६) विमावत्थु (७) पेतवत्थु (८) थेरगाथा (९) थेरीगाथा (१०) जातक (११) निद्देस, (१२) पटिसम्भिदा-मग्ग (१३) अपदान (१४) बुद्धवस (१५) चारि यापिटक।

(२) विनय पिटक निम्नलिखित भागों में विभक्त है...

(१) महावग्ग (२) चुल्लवग्ग (३) पाराजिक (४) पाचित्तियादि (५) परिवार पाठ।

(३) अभिधम्म-पिटक में सात ग्रन्थ हैं...

(१) धम्मसंगणि, (२) विभंग, (३) धातुकथा, (४) पुग्गल पञ्ञत्ति (५) कथावत्थु, (६) यमक, (७) पट्ठाणन।

यह जो त्रिपिटक का वर्गीकरण है, आचार्यों का मत है कि वह राजगृह में हुई प्रथम सगीति के अनुसार है। उनका कहना है कि 'भगवान् बुद्ध के परि-निर्वाण के बाद सुभद्र भिक्षु ने भिक्षुओं को सान्त्वना देते हुये कहा "आवुसो! मत शोक करो। मत रोओ। हम मुक्त हो गये। उस महाश्रमण से पीडित रहा करते थे कि यह करो और यह न करो। अब हम जो चाहेंगे करेंगे, जो नहीं चाहेंगे नही करेंगे।" तब महाकाश्यप डरे कि कहीं सद्धर्म का अर्न्तधान न हो जाय। उसकी रक्षा करने के लिये उन्होंने पाँच सौ अर्हत भिक्षुओं की एक सगीति बुलाई। उस सगीति में पहले उपालि महास्थविर से पूछकर 'विनय' का संगायन हुआ और बाद में आनन्द महास्थविर से सुत्त और अभिधम्म पूछा गया।

लेकिन प्रथम सगीति का जो वर्णन चुल्लवग्गा में आया है उस वर्णन में कहीं त्रिपटक का जिक्र नहीं। और तो क्या पिटक शब्द ही नहीं। उस समय केवल 'धम्म' और 'विनय' का संगायन हुआ था।

ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक-काल पर्यन्त बुद्ध वचन के दो ही विभाग रहे.........धम्म और विनय......तथा उस समय तक त्रिपिटक के ग्रन्थों की रचना होती रही। अभिधम्म पिटक के एक ग्रन्थ कथावत्थु के रचयिता स्पष्ट ही अशोक गुरु मोग्गालिपुत्त तिस्स स्थविर थे।

बुद्ध-वचन का प्राचीन वर्गीकरण

बुद्ध वचन का एक प्राचीन वर्गीकरण स्वय त्रिपिटक में है। उसके अनुसार बुद्ध-वचन नौ भागों में विभक्त हैं—

(१) सुत्त . यह शब्द सूत्र तथा सूक्त दोनों सस्कृत शब्दों का रूपान्तर समझा जाता है।

(२) गेय...सुत्तों में जो गाथाओं का हिस्सा है वह गेय है।

(३) वेय्याकरण...किसी सुत्त के विस्तृत अर्थ को वेय्याकरण कहते हैं।

(४) गाथा . बुद्धघोषाचार्य ने धम्मपद, थेरगाथा, और थेरीगाथा की गिनती 'गाथा' में की है। इनमें से थेर-गाथा में अशोक के भाई वीतसोक की गाथायें उपलब्ध हैं। इससे तथा इसकी रचना शैली से सिद्ध है कि इस ग्रन्थ का वर्तमान रूप भगवान् के परिनिर्वाण के तीन चार सौ वर्ष बाद का है !

(५) उदान . मूल अर्थ है उल्लास-वाक्य। उदान नाम का एक ग्रन्थ है ही।

(६) इतिवुत्तक.. खुद्दक निकाय का इतिवुत्तक १२४ इतिवुत्तकों 'इति-उत्कों' का संग्रह है।

(७) जातक.. यह कथा-साहित्य सर्व प्रसिद्ध है। इसमें के अनेक दृश्य सॉची, भरहुत आदि के स्तूपों की वेष्ठनी (रेलिंग) पर खुदे मिलते हैं।

(८) अब्भुतधम्म.. अर्थ है साधारण-धर्म। इस नाम का कोई ग्रन्थ नही है। ऐसा लगता है कि भगवान् बुद्ध अथवा उन के द्वारा की गई आश्चर्य-कर बातें इस वर्गीकरण के अन्तर्गत आई होंगी।

(९) वेदल्ल ..महा-वेदल्ल और चुल्य-वेदल्ल (मज्झिमनिकाय) जैसे सूत्रों के सग्रह का नाम होगा।

इस सारे सग्रह में कितना बुद्ध के समय का है और कितना पीछे का कहना कठिन है, किन्तु तो भी हम इसे बुद्ध-वचन ही मानते हैं क्योंकि बुद्ध-वचन यदि ससार भर में किसी भी वाङ्मय में है तो वह इसमें है और ससार का कोई भी दूसरा साहित्य-सग्रह हमें इस से अधिक बुद्ध और उनकी वाणी के समीप नहीं ले जाता।

बुद्ध-वाणी का सार

यदि सारी बुद्ध-वाणी को दो शब्दों में व्यक्ति करना है तो वह इतनी ही है ..दुःख और दुःख से मुक्ति।

जो बातें जितनी ही सरल प्रतीत होती हैं, ये विचार करने पर उतनी ही गहन प्रतीत होने लगती हैं।

मेरे हाथ में एक पुस्तक है। आप सब देख रहे हैं। किन्तु क्या सब एक ही पुस्तक देख रहे हैं ? आँखों पर भिन्न-भिन्न नम्बरों के चश्मे लगे और न लगे

होने के कारण निश्चय से नहीं निश्चय से नहीं। तब मेरे हाथ में जो पुस्तक है वह किसे दिखाई दे रही है, अथवा किसी को नहीं ? यदि किसी को भी दिखाई दे रही है तो किसे और यदि किसी को नहीं, तो यह जो सब को दिखाई दे रही है, यह क्या है ?

इसी प्रकार हम 'दुःख दुःख' तो कहते हैं, किन्तु दुःख की परिभाषा क्या है ? परिभाषा तो पानी की नहीं हो सकती, आग की नहीं हो सकती, उसका व्यवहार बताकर आदमी को उससे परिचित भर कराया जा सकता है। तो दुःख क्या है ? तथागत ने बताया है.. जाति पी दुक्खा जरापि दुक्खा, मरणाम्पि दुक्ख सोक परिदेव.. दुक्ख दोमनस्सुपायासापि दुक्खा. अप्पियेहि सम्पयोगे दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो यम्पिच्छ न लभति तम्पि दुक्ख संक्खित्तेन पञ्चूपादानक्खन्धापि दुक्खा।

[अर्थात् पैदा होना दुःख है, बूढा होना दुःख है, मरना दुःख है, शोक करना दुःख है, रोना पीटना दुःख है, पीड़ित होना दुःख है, चिन्तित होना दुःख है, परेशान होना दुःख है, अप्रिय का मेल दुःख है, प्रिय का वियोग दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है, थोडे में कहना हो तो पाँच उपादान स्कन्ध ही दुःख है।]

यह सभी को अनुभव होने वाले दुःख के बारे में दो विरोधी दृष्टि-कोण दिखाई दे रहे हैं। एक दृष्टिकोण तो इस सारे दुःख को भ्रम मात्र स्वीकार करता है और दूसरा इसे आर्य-सत्य कहता है। जो लोग इस दुःख को भ्रम कहते है, वे वास्तव में ससार को ही भ्रम-मात्र समझते हैं। इनकी दृष्टि में वास्तविक सत्ता है सत्त-चित्त आनन्द-स्वरूप ब्रह्म। यदि उनसे पूछा जाय कि ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करने से क्या प्रमाण है, तो उनका सब से जोरदार उत्तर 'शास्त्रयोनित्वाद्' है, अर्थात् वे शास्त्र की दोहाई देने लगते हैं। और यदि कोई पूछ बैठे कि शास्त्र की प्रमाणिकता में क्या प्रमाण है तो फिर उसके लिये उनके पास अपने काल्पनिक ब्रह्म ही की दुहाई देने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता।

शब्द प्रमाण की अमान्यता

जहाँ तक बौद्ध दर्शन की बात है उसमें शब्द-प्रमाण के लिये कोई स्थान

है ही नहीं। इन्द्रियों को विषयो के संनिकर्ष से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'प्रत्यक्ष' स्वीकार करना ही पडता है। प्रत्यक्ष के बाद अनुमान प्रमाण भी एक जोरदार प्रमाण है। आग न दिखाई दे तो धुआँ दिखाई देने से भी आग का अस्तित्व माना ही जा सकता है किन्तु 'शास्त्र कहता है' इस लिये ब्रह्म है, इस तरह के शब्द प्रमाण के लिये कहीं कोई स्थान नहीं।

भगवान् बुद्ध एक बार घूमते-घूमते कालामा क्षत्रियों के गाँव में पहुँचे। लोगो ने पूछा – "भन्ते! कुछ लोग एक मत का प्रतिपादन तथा दूसरे का खंडन करते है, तथा दूसरे लोग दूसरे मत का प्रतिपालन और पहले का खण्डन करते हैं हम कैसे जानें कि किसका कथन यथार्थ है और किसका अयथार्थ है? भगवान् ने उत्तर दिया—"कालामो! किसी बात को केवल इसलिये सत्य मत मानो कि उसके कहने वाला तुम्हारा कोई आदरणीय आचार्य्य है, किसी बात को केवल इसलिये सत्य मत मानो कि वह तुम्हारे (पिटक) में लिखी है ",।

हाँ, तो यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि ससार दुःख है, और दुःख अनित्य है।

दु:ख आर्य-सत्य

यह सही है कि ससार अनित्य है, और दुःख भी अनित्य है, किन्तु दुःख है यहीं पर आर्य-सत्य है।

कुछ लोग आज भी ऐसे हैं और सदा से रहे हैं तथा शायद सदा रहेंगे जो अपने व्यक्तिगत मजों के ससार में इतने अधिक रहते हैं कि वे न अपने आस-पास के दुःख को देख सकते है न स्वीकार कर सकते हैं! यह सत्य है कि उन्हें भोगों की कमी नहीं होती, किन्तु क्या दुःख की भी कमी है? जितने भोग, लगभग उतने ही रोग। ऐसे लोग समझते हैं कि अधिक से अधिक मजे उड़ाना ही सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। इस 'बुद्धिमानी' में और तो कोई हर्ज नही, हर्ज यही है कि अधिक से अधिक मजों के पीछे भागने वाला, ओर तो क्या मजे उड़ाने तक की योग्यता खो बैठता है। ज्यों ज्यों वह मजों के साधनों की मात्रा बढाता जाता है, त्यों त्यों उनसे मिलने वाले 'मजे' में कमी पड़ने लगती है। शनैःशनैः बिचारे गरीब की ऐसी दुर्दशा होती है कि उसके भोग तो उसे कोई 'आनन्द' नहीं देते,

किन्तु भोगों से विरत रहने से उसे महान् दुःख होना है। आज एक प्याला अपर्याप्त, कल दो अपर्याप्त परसों तीन अपर्याप्त। एक दिन आता है—पीने में कोई मजा नहीं किन्तु न पीने में महान् दुःख !

हम यह मान लेते है कि दुःख है। कैसे न मान लें जब हर मानव को प्रतिक्षण शारीरिक और मानसिक वेदनायें होती रहनी हैं। हम हिन्दी में 'वेदना' शब्द को पीडा के अर्थ में लेते हैं, किन्तु दर्शन-शास्त्र में उसका अर्थ अनुभूति लिया जाता है। उस अर्थ में हम कहते हैं कि हर आदमी को दुःख-वेदना होती है, सुख-वेदना होती है तथा अदुःख-असुख वे ना होती है। दुःख-वेदना तो कष्ट वेदना है ही, सुख-वेदना भी एक प्रकार की चचलता ही है, जो और शान्त चित्त पुरुष को दुःख रूप ही प्रतीत होती है।

ईश्वर

तो प्रश्न उठता है कि यह दुःख क्यों है? जितने ईश्वर वादी धर्म हैं ईसाई, मुसलमान, तथा हिन्दुओं के भीतर गिने जाने वाले अनेक धार्मिक सम्प्रदाय सभी अधिक अथवा कम मात्रा में मानव के इस दुःख की ज़िम्मेदारी परमात्मा पर ही डालते है। बुद्ध ने ईश्वर निर्माण-वाद को एकदम अस्वीकार किया है। स्वर्गीय प्रेमचन्द्र जी ने एक बार कहा था कि हम ईश्वर को सृष्टिकर्ता मान तो लें किंतु मुसीबत यह है कि इसके साथ उसे दयालु भी मानने के लिये कहा जाता है। सचमुच यह ईश्वर की कैसी दया है कि उसने ऐसी दुःखपूर्ण तथा इतनी अन्याय पूर्ण सृष्टि बनाई है? कुछ धर्मों ने इस आपत्ति से बचने के लिये ईश्वर को केवल कर्मफल प्रदाता माना है! आदमी कर्म करने में स्वतत्र है। किन्तु फल भोगने में परतंत्र है। इसका मतलब यही हुआ कि ईश्वर ने आदमी को बुरे कर्मों का बुरा फल दे सकने के लिये ही उसे बुरे कर्म करने की स्वतन्त्रता दी। अन्यथा इसका क्या अर्थ है कि पहले तो आदमी में बुरे कर्म की सामर्थ्य पैदा की जाय और जब वह बुरा काम करे तो उसके लिये उसे दण्डित किया जाय? कहा जा सकता है कि ईश्वर तो केवल कर्म करने की स्वतत्रता और शक्ति देता है, अच्छा वा बुरा कर्म नहीं। तो, आदमी जो बुराई करता है उसका मूल स्रोत कहाँ है? यदि आप 'ईश्वर' में नहीं मानते तो आप को बताना होगा कि कहाँ से आई!

कुछ लोग ईश्वर सम्बन्धी सब प्रश्नों का एक उत्तर रखते हैं-अनिर्वचनीयता। ऐसे लोगों का भगवान् बुद्ध ने बडा मजाक बनाया लगता है। पुराने समय में आजकल के सौन्दर्य-दगल (Beuty compitition) की तरह सौन्दर्य-दंगल होते थे। जो सबसे अधिक सुन्दरी होती उसे जनपद-कल्याणी कहते थे। भगवान् बुद्ध का कहना है "भिक्षुओ! यदि कोई आदमी कहे कि मैं अमुक जनपदकल्याणी को बहुत चाहता हूँ, किन्तु जब उससे पूछा जाय कि जनपदकल्याणी कैसी है, लम्बी है, मॅझले कद की है, छोटी है, तो वह कहे मैं नहीं जानता हूँ कि कैसी है, किन्तु उसे मैं चाहता बहुत हूँ। क्षत्राणी है, ब्राह्मण है, वैश्यानी है, कौन है! मैं नहीं जानता कि कौन है? किन्तु मैं चाहता बहुत हूँ। काली है, गोरी है, कैसी है? मैं नहीं जानता हूँ कि वह कैसी है किन्तु मै उसे चाहता बहुत हूँ। वही हाल भिक्षुओ इन ब्रह्म के पीछे भागने वालों का है। उनसे कोई पूछे कि वह कैसा है तो वह कहते है कि वह अनिर्वचनीय है, किन्तु यह उसे चाहते बहुत है।"

दु ख का वास्तविक कारण

बुद्ध के मत में दुःख का कारण हम स्वयं हैं, हमारी अपनी अविद्या है, हमारी अपनी तृष्णा है। "कतमन्च भिक्खवे दुक्खवसमुदय अरियसच्च? याय तरहा पोनब्भविका नन्दिरागसहगता तत्रतत्राभिनन्दिनी सेवथीद कामतण्हा, भव-तरहा, विभवतरहा" अर्थात् भिक्षुओ, यह जो फिर फिर जन्म का कारण है, यह जो लोभ तथा राग से युक्त है, यह जो जहीं कहीं मज लेती है, यह जो तृष्णा है, जैसे काम-तृष्णा, भव-तृष्णा, विभव-तृष्णा, यह तृष्णा ही दुःख के समुदय क बारे में आर्य-सत्य है।

प्रथम दुःख आर्य-सत्य के साथ यह द्वितीय दुःख समुदय आर्य-सत्य आ मिलता है। लोगों को बुद्ध का धर्म एकदम निराशावादी धर्म लगने लग सकता है। क्या बुद्ध-धर्म एकदम निराशावाद ही निराशावाद है? नहीं, बिलकुल नहीं। निराशवाद का कहना है कि दुःख है और दुःख से मुक्ति नहीं है, किन्तु बुद्ध धर्म तो केवल एक योग्य चिकित्सक की भाँति कहता है—दुःख है और दुःख से मुक्ति भी है।

क्या कबूतर के आँख बद कर लेने से उसे बिल्ली न खायेगी? इसी प्रकार

दुःख की ओर से आँख मूँद लेने से उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करने से दुःख दूर नहीं हो सकता।

बुद्ध द्वारा बे-कही बाते

बुद्ध की शिक्षाओं की सारी विशेषता यही है कि वे दुःख और दुःख से मुक्ति की धुपि के ही दर्द-गिर्द घूमती रहती है। रोट्ठपाद ब्राह्मण ने उनसे पूछा था—"क्या लोक शाश्वत है ?" भगवान् का उत्तर था "लोक शाश्वत हैं यह मैंने कब कहा ?"

"तो क्या लोक अशाश्वत है ?"

"लोक अशाश्वत है.. यह मैंने कब कहा ?"

"क्या लोक अन्तवान् है ?"

"लोक अन्तवान् है यह मैंने कब कहा ?"

"क्या लोक अनन्तवान् है ?"

"लोक अनन्तवान् है . यह मैंने कब कहा ?"

इसी प्रकार क्या जीव और शरीर एक ही है ? तथा क्या जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है ? इसका भी उत्तर दिया। मरने के बाद तथागत होते हैं, वा नहीं होते हैं ? इसका भी ऐसा ही'उत्तर, है। इन प्रश्नों को अव्याकृत—उत्तर न दिये गये प्रश्न कहा गया है। आखिर इनका उत्तर क्यों नहीं दिया ? तथागत का कहना है...इनमें कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता...न शान्ति प्राप्त होती है, न ज्ञान प्राप्त होता है। उन्होंने एक बार भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा...

"भिक्षुओ, यदि कोई कहे कि मैं तब तक भगवान् बुद्ध के उपदेश के अनुसार नहीं चलूँगा जब तक कि भगवान् मुझे यह न बता दें कि ससार शाश्वत है या अशाश्वत है, ससार सान्त है या अनन्त है, जीव वही है जो शरीर है, वा जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है, मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं, वा मृत्यु के बाद तथागत नहीं रहते हैं...तो भिक्षुओं, यह बातें तो तथागत के द्वारा बे-कही रहेंगी और वह मनुष्य यूं ही मर जायगा।

"भिक्षुओ, जैसे किसी आदमी को जहर में बुझा हुआ तीर लगा हो। उसके मित्र रिश्तेदार उसे तीर निकालने वाले वैद्य के पास लें जावें। लेकिन वह

कहे...मैं तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊँगा, जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है, वह क्षत्रिय है; ब्राह्मण है, वैश्य है, या शूद्र ? अथवा वह कहे कि मै तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊगा, जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे तीर मारा है उसका अमुक नाम है, अमुक गोत्र है, अथवा वह कहे...मैं तब तक यह तीर न निकलवाऊँगा, जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है वह लम्बा है, छोटा है, वा मँझले कद का है ? तो हे भिक्षुओं, उस आदमी को इन बातों का पता लगेगा ही नहीं, और वह यूँ ही मर जायगा।

"भिक्षुओं, ससार शाश्वत है, ऐसा मत रहने पर भी, ससार सान्त है, ऐसा मत रहने पर भी संसार अनन्त है, ऐसा मत रहने पर भी, जीव वही है, जो शरीर है, ऐसा मत रहने पर भी जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है। ऐसा मत रहने पर भी, मृत्यु के बाद तथागत होते हैं, ऐसा मत रहने पर भी, मृत्यु के बाद तथागत नहीं होते हैं, ऐसा मत रहने पर भी...जन्म-बुढ़ापा, मृत्यु-शोक, रोना-पीटना, पीडित होना, चिन्तित होना, परेशान होना तो हर हालत में है ही और मैं इस जन्म में...जीते जी...इन्हीं सब के नाश का उपदेश देता हूँ।

आत्मवाद

प्रश्न उठता है कि हम दुःख-दुःख-दुःख कहते हैं। यह दुख कौन भोगता है ? आत्म-वादी दर्शनों का कहना है जीव-आत्म, और बौद्ध-दर्शन का दूसरा नाम ही है अनात्मवाद। बिना आत्मवाद को समझे अनात्मवाद समझ में आ ही नहीं सकता। शास्त्र-बल मात्र से किसी तत्व की सिद्धि उस शास्त्र को मानने वाले को ही मान्य हो सकती है। दूसरे तो सहज-बुद्धि द्वारा की गई ऊहा-पोह द्वारा ही प्रत्येक बात को समझना चाहेंगे।

हमारे सामने यह एक मेज है। हम कहते है कि मेज के एक लकडी का तख्ता और चार टाँगे हैं। अर्थात् मेज-आत्मा लकडी के तख्ते और चार टाँगों से पृथक अपना कोई अस्तित्व नहीं रखती है। क्या ऐसा समझना ठीक है ? यदि हम कहें कि लकडी का तख्ता और चार टाँगे मेज है तो क्या यह कहना अधिक

दुःख की ओर से आँख मूँद लेने से उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करने से दुःख दूर नहीं हो सकता।

बुद्ध द्वारा बे-कही बाते

बुद्ध की शिक्षाओं की सारी विशेषता यही है कि वे दुःख और दुःख से मुक्ति की धुपि के ही दर्द-गिर्द घूमती रहती है। रोट्ठपाद ब्राह्मण ने उनसे पूछा था—"क्या लोक शाश्वत है ?" भगवान् का उत्तर था "लोक शाश्वत हैं यह मैंने कब कहा ?"

"तो क्या लोक अशाश्वत है ?"

"लोक अशाश्वत है . यह मैंने कब कहा ?"

"क्या लोक अन्तवान् है ?"

"लोक अन्तवान् है यह मैंने कब कहा ?"

"क्या लोक अनन्तवान् है ?"

"लोक अनन्तवान् है ..यह मैंने कब कहा ?"

इसी प्रकार क्या जीव और शरीर एक ही है ? तथा क्या जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है ? इसका भी उत्तर दिया। मरने के बाद तथागत होते हैं, वा नहीं होते हैं ? इसका भी ऐसा ही'उत्तर, है। इन प्रश्नों को अव्याकृत—उत्तर न दिये गये प्रश्न कहा गया है। आखिर इनका उत्तर क्यों नहीं दिया ? तथागत का कहना है...इनमें कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता...न शान्ति प्राप्त होती है, न ज्ञान प्राप्त होता है। उन्होंने एक बार भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा...

"भिक्षुओ, यदि कोई कहे कि मैं तब तक भगवान् बुद्ध के उपदेश के अनुसार नहीं चलूँगा जब तक कि भगवान् मुझे यह न बता दें कि संसार शाश्वत है या अशाश्वत है, ससार सान्त है या अनन्त है, जीव वही है जो शरीर है, वा जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है, मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं, वा मृत्यु के बाद तथागत नहीं रहते हैं...तो भिक्षुओं, यह बातें तो तथागत के द्वारा बे-कही रहेंगी और वह मनुष्य यूं ही मर जायगा।

"भिक्षुओ, जैसे किसी आदमी को जहर में बुझा हुआ तीर लगा हो। उसके मित्र रिश्तेदार उसे तीर निकालने वाले वैद्य के पास लें जावें। लेकिन वह

कहे...मै तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊँगा, जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है, वह क्षत्रिय है; ब्राह्मण है, वैश्य है, या शूद्र ? अथवा वह कहे कि मै तब तक यह तीर नही निकलवाऊगा, जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे तीर मारा है उसका अमुक नाम है, अमुक गोत्र है, अथवा वह कहे.. मैं तब तक यह तीर न निकलवाऊँगा, जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है वह लम्बा है, छोटा है, वा मँझले कद का है ? तो हे भिक्षुओं, उस आदमी को इन बातों का पता लगेगा ही नही, और वह यूँ ही मर जायगा।

"भिक्षुओं, ससार शाश्वत है, ऐसा मत रहने पर भी, ससार सान्त है, ऐसा मत रहने पर भी संसार अनन्त है, ऐसा मत रहने पर भी, जीव वही है, जो शरीर है, ऐसा मत रहने पर भी जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है। ऐसा मत रहने पर भी, मृत्यु के बाद तथागत होते है, ऐसा मत रहने पर भी, मृत्यु के बाद तथागत नहीं होते हैं, ऐसा मत रहने पर भी...जन्म-बुढापा, मृत्यु-शोक, रोना-पीटना, पीडित होना, चिन्तित होना, परेशान होना तो हर हालत में है ही और मैं इस जन्म में...जीते जी...इन्हीं सब के नाश का उपदेश देता हूँ।

आत्मवाद

प्रश्न उठता है कि हम दुःख-दुःख-दुःख कहते हैं। यह दुख कौन भोगता है ? आत्म-वादी दर्शनों का कहना है जीव-आत्म, और बौद्ध-दर्शन का दूसरा नाम ही है अनात्मवाद। बिना आत्मवाद को समझे अनात्मवाद समझ में आ ही नहीं सकता। शास्त्र-बल मात्र से किसी तत्व की सिद्धि उस शास्त्र को मानने वाले को ही मान्य हो सकती है। दूसरे तो सहज-बुद्धि द्वारा की गई ऊहा-पोह द्वारा ही प्रत्येक बात को समझना चाहेंगे।

हमारे सामने यह एक मेज है। हम कहते है कि मेज के एक लकड़ी का तख्ता और चार टाँगे हैं। अर्थात् मेज-आत्मा लकडी के तख्ते और चार टाँगों से पृथक अपना कोई अस्तित्व नहीं रखती है। क्या ऐसा समझना ठीक है ? यदि हम कहें कि लकडी का तख्ता और चार टाँगे मेज है तो क्या यह कहना अधिक

ठीक नहीं जँचता ? यदि आप पहले कथन को ठीक मानते हैं तो आप आत्म-वादी है और यदि आप दूसरे कथन को अधिक ठीक मानते हैं तो आप नैरात्म-वादी हैं।

मेज निर्जीव वस्तु है। हम सजीव प्राणी की बात लें। एक कथन है—कुत्ता आँख, मुँह, नाक पूँछ, आदि अंग का रखता है अर्थात् कुत्ता-आत्मा के ये सब अ ग हे। दूसरा कथन है कुत्ते की आँख, मुँह, नाक, कान, आदि सभी इन्द्रियाँ मिलकर कुत्ता है। आप कुत्ता-आत्मा वाले पहले कथन को ठीक समझते हैं अथवा दूसरे को ? यदि पहले को तो आप आत्म वादी, यदि दूसरे को तो आप नैरात्म वादी हैं।

अब कुत्ते से आगे वढकर अपने मित्र मोहन का उदाहरण लें—मोहन लिखता है। कौन लिखता है ? मोहन लिखता है। मोहन लिखता है अथवा मोहन का हाथ लिखता है ? यदि मोहन लिखता है तो क्या मोहन अपने हाथ से कोई पृथक वस्तु है ? यदि हाथ लिखता है, तो क्या यदि हाथ में कलम न हो तो हाथ लिख सकता है ? तब आप कहेंगे कि आपका पार्कर ५१ लिखता है। क्या आपका पार्कर ५१ लिख सकता है यदि उसमें स्याही न हो ? और यदि उसमें स्याही भी हो तब भी यदि कागज न हो तो क्या लिखने की क्रिया हो सकती है ? स्पष्ट है कि नहीं। तव आपको कौन सा कथन अधिक ठीक जॅचता है ? मोहन के हाथ। कलम, स्याही, कागज से पृथक उसका मोहन-आत्मा लिखता है– यह कथन अधिक ठीक जॅचता है, अथवा यह दूसरा कथन कि मोहन के मस्तिष्क में उठनेवाले विचारों, उसके हाथ, कागज, कलम, आदि सभी चीजों के होने से लिखने की क्रिया होती है। यदि आप पहले कथन को ठीक समझते हैं तो आप आत्म वादी हैं और यदि दूसरे कथन को ठीक समझते हैं तो आप नैरात्म वादी।

हाँ, तो दुःख कोन भोगता है ? इस प्रश्न का सीधा-साधा आत्मवादी उत्तर तो होगा—'जीव-आत्मा। कौषीत्की उपनिषद् में आया है कि वाणी की खोज न करो, वक्ता को जानो। रूप, कर्म-चित्र के जानने का उद्योग न करो, द्रष्टा, को तथा मनन करने वाले को जानो।'

और इसके सर्वथा प्रतिकूल तथागत का उत्तर है। जब उनसे पूछा जाता है कि आदमी दु-ख भोगता है, कहते है, कौन दुःख भोगता है? तो वे उत्तर देते हैं—'न कल्लेयं पन्हों तुम्हारा, यह प्रश्न ही ठीक नहीं है कि कौन दुःख भोगता है? प्रश्न यूँ पूछा जाना चाहिये कि क्या होने से दुःख होता है? और उसका उत्तर यह है कि तृष्णा होने से दुःख होता है। यदि आप फिर यह जानना चाहें कि तृष्णा किसे होती है, तो फिर बुद्ध का यही उत्तर है कि तुम्हारा यह प्रश्न ही गलत है कि तृष्णा किसे होती है? प्रश्न यूँ होना चाहिये कि क्या होने से तृष्णा होती है और उसका उत्तर यह है कि वेदना होने से तृष्णा होती है—और वेदना? (अर्थात् इन्द्रियों को विषयों के स्पर्श से अनुभूति) इन्द्रियाँ और विषयों का स्पर्श होने से वेदना होती है—यह जो इस प्रकार से प्रत्ययों के होने से उत्पत्ति का नियम है, इसे ही कहते है प्रतीत्यसमुत्पाद।

जिस प्रकार कैमिस्ट्री और फिजिक्स के अनेक फार्मूले बने हुए हैं उसी प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद का फार्मूला है—एव सति एवं होति। ऐसा होने से ऐसा होता है। एवं असति एवं न होति। ऐसा न होने से ऐसा नही होता।

दूध के होने से दही होता है, दूध के न होने से दही नही होता। तब क्या दूध और दही एक ही वस्तु है? नहीं। तब क्या दूध और दही सर्वथा भिन्न है? नही। तब दूध और दही का परस्पर का सम्बन्ध क्या है? नच सो नच अञ्ञो न वही और न सर्वथा भिन्न। ससार में जितने भी पदार्थ हैं—उनका उत्पत्ति-क्रम यही है—अविद्या के होने से सस्कार, सस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नाम रूप, नामरूप के होने से छः आयतन, छः आयतनों के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादन के होने से भव, भव के होने से जन्म, जन्म के होने से बुढापा, मरना, शोक, रोना पीटना, दुःख, मानसिक चिन्ता, तथा परेशानी होती हैं। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।

और उनका विरोध-क्रम भी यही है—अविद्या के हो सम्पूर्ण विराग से, निरोध से सस्कारों का निरोध होता है, सस्कारों का निरोध होने से विज्ञान का,

"महाराज ! बहुत ठीक। आपने जान लिया कि रथ क्या है; इसी तरह मेरे भी केश आदि के आधार पर केवल व्यवहार के लिये नागसेन ऐसा एक नाम कहा जाता है। परमार्थ में नागसेन ऐसा कोई एक पुरुष विद्यमान नहीं है।"

लोग मान लेते हैं कि आत्मा को मान लिया तो फिर जन्मान्तर तो स्वय सिद्ध है। हम पूछते हैं कैसे ? आखिर आत्मा की कल्पना केवल अच्छे-बुरे कर्मों के सस्कारों के वाहक के रूप में ही की गई है न ? जो अच्छे-बुरे संस्कारों से सस्कृत होता है, वह कूटस्थ नित्य रहा वा अनित्य ? यदि कूटस्थ नित्य है तो सस्कारों का वहन कैसे करता है ? यदि सस्कारों का वहन करता है तो कूटस्थ नित्य कैसे है ? यदि कहो कि केवल प्रवाह से नित्य है तो फिर बौद्धों की चित्त-संतति और आत्मा में अन्तर ही क्या है ?

जन्म ग्रहण करनेवाला

यदि आत्मा नहीं ही है तो प्रश्न पैदा होता है कि कौन जन्म ग्रहण करता है ? 'कौन जन्म ग्रहण करता है' इसका उत्तर देना तो अनुचित होगा; तो भी इतना कह सकते हैं कि नाम (Mind) और रूप (Matter) का जन्म ग्रहण करना होता है।

"क्या इसी नाम और रूप का जन्म ग्रहण करना होता है ?"

"नहीं, इसी नाम और रूप का जन्म ग्रहण करना नहीं होता। मनुष्य इस नाम और रूप से पुण्य-पाप करता है, उस कर्म के करने से दूसरे नाम और रूप का जन्म ग्रहण होता है।"

"तब तो पहला नाम और रूप अपने कर्मों से मुक्त हुआ ?"

"यदि आगे जन्म न हो तो मुक्त हुआ और यदि आगे जन्म हो तो मुक्त नहीं हुआ।"

"कैसे ?"

(१) आदमी के लगाये हुए आम दूसरे और चुरानेवाले के चुराये हुए दूसरे तब भी चोर को सजा मिलती ही है।

(२) अपने खेत में जलाई हुई आग से पडोसी का खेत जल जाने पर भी आग छोड जानेवाले व्यक्ति को सजा मिलती ही है।

"तो क्या आत्मा है ही नहीं ?"

"आत्मा कहते किसे है ?"

"जो जीव हम लोगों के भीतर बैठकर देखता है, सुनता है.. आदि वह आत्मा है।"

"क्या वह आँख के द्वारा सुन और कान के द्वारा देख सकता है ?"

"नहीं।"

"यथार्थ बात है कि चक्षु, रूप तथा विज्ञान तीनों के इकट्ठे होने से ही चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् देखना होता है और श्रोत्र, शब्द तथा विज्ञान तीनों के इकट्ठे होने से ही श्रोत्र-विज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् सुनना होता है।"

"यदि आत्मा नहीं तो सक्रमण अथात् आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना असभव और सक्रमण नहीं तो पुनर्जन्म असम्भव ?"

बिना सक्रमण के पुनर्जन्म

बुद्ध की शिक्षा की यही विशेपता है कि उसमें आत्मा तथा उसके सक्रमण की पूर्ण अस्वीकृति होने पर भी पुनर्जन्म की स्वीकृति है।

राजा मिलिन्द ने ही पूछा था

"भन्ते ! यदि सक्रमण नहीं होता तो पुनर्जन्म कैसे होता है ?"

"हाँ महाराज ! विना सक्रमण हुए पुनर्जन्म होता है ?"

"भन्ते ! सो कैसे होता है ? कृपया उपमा देकर समझावें।"

"महाराज ! यदि कोई एक बत्ती से दूसरी बत्ती जला ले तो क्या यहाँ एक बत्ती दूसरी बत्ती में सक्रमण करती है ?"

"नहीं भन्ते !"

"महाराज ! इसी तरह बिना सक्रमण किये पुनर्जन्म होता है।"

"और सुनें महाराज ! क्या आपको कोई श्लोक याद है, जो आपने अपने गुरु के मुख से सुना हो ?"

"हाँ याद है।"

"महाराज, क्या वह श्लोक आचार्य के मुख से निकलकर आप के मुँह में घुस गया है ।"

"नहीं भन्ते ।"

"महाराज ! इसी तरह बिना संक्रमण हुए पुनर्जन्म होता है ।"

यह उपमायें कितनी ही सुन्दर हों तो भी यह मानकर चलना होता है कि हम वैज्ञानिक की मेज पर बैठकर तो न आत्मा के संक्रमण का प्रदर्शन कर सकते हैं और न ही पुनर्जन्म का। जिस चीज का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता, वह सब असत्य ही हो, ऐसी बात नहीं। किन्तु तो भी यदि पुनर्जन्म का भी प्रदर्शन किया जा सकता तो सामान्य मनुष्य भी मृत्यु के रहस्य को जीत लेता। अब तो हमें यही मानकर चलना है कि पुनर्जन्म भी एक व्याख्या विशेष है, जो अनेक दूसरी व्याख्याओं से कुछ बहुत खराब नहीं।

दुःख से मुक्ति

यदि सचमुच आत्मा कोई चीज ही नहीं अर्थात् दुःख का कोई भोगनेवाला है ही नहीं, तब तो यह दुःख से मुक्ति का सारा प्रयत्न व्यर्थ। हाँ, सचमुच यदि उसे इस यथार्थ दृष्टि की उपलब्धि हो जाय कि जीव-आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, वह केवल हमारे अहंकार-जन्य संस्कार का एक दूसरा नाम है और हो जाय हमारे अहंकार का अशेष नाश तो फिर हमें दुःख से मुक्ति का प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं। हम प्रयत्न करने से पूर्व ही मुक्त हैं।

उस अवस्था में न दुःख ही है, न उसका भोक्ता। न प्रश्न के लिये स्थान है और न उसके उत्तर के लिये।

निर्वाण

तो क्या यह जो दुःख का एकान्तिक निरोध है, जिसे निर्वाण कहते हैं, जीते-जी प्राप्त किया जा सकता है ?

"भिक्षुओं, आदमी जीते-जी निर्वाण को प्राप्त होता है, जो काल से सीमित नहीं, जिसके बारे में कहा गया है कि 'आओ और स्वयं देख लो', जो ऊपर उठानेवाला है, जिसे प्रत्येक बुद्धिमान आदमी स्वयं प्रत्यक्ष करता है।"

यह निर्वाण कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसे आदमी उसके पीछे भागकर प्राप्त कर

सके। जिस प्रकार आदमी स्वयं स्वस्थ होता है कुछ उसके पीछे दौड़कर उसे प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार आदमी स्वयं निवृत्त होता है, कुछ निर्वाण के पीछे भागकर उसे प्राप्त नहीं करना।

भिक्षु जब शांति-चित्त हो जाता है, जब बन्धनों से बिलकुल मुक्त हो जाता है, तब उसको कुछ और करना नहीं बाकी रहता। जो भी कार्य वह करता है, उसमें कोई ऐसा नहीं होता, जिसके लिये उसे पश्चात्ताप हो।

तृष्णा के समुदय से दुःख-समुदय होता है और तृष्णा के निरोध से दुःख निरोध। किन्तु यह तृष्णा का निरोध कैसे हो सकता है ? उत्तर और एक ही उत्तर है आर्य अष्टांगिक मार्ग।

आर्य अष्टांगिक मार्ग

यही आर्य अष्टांगिक मार्ग ही दुःख-निरोध की ओर ले जानेवाला है।

(१) शील .... (१) सम्यक् वाणी
(२) सम्यक् कर्मान्त
(३) सम्यक् आजीविका
(२) समाधि .... (४) सम्यक् व्यायाम
(५) सम्यक् स्मृति
(६) सम्यक् समाधि
(३) प्रज्ञा .... (७) सम्यक् दृष्टि
(८) सम्यक् संकल्प

हमने यहाँ आर्य अष्टांगिक मार्ग को शील-समाधि-प्रज्ञा के क्रम से रक्खा है क्योंकि शील की भूमि पर खड़े होकर ही समाधि की सहायता से प्रज्ञारूपी मधुर फल प्राप्त किया जा सकता है।

शील क्या है ? शील वाणी द्वारा प्रगट होता है और कर्मों द्वारा।

झूठ, चुगल-खोरी, कठोर-बचन तथा फजूल बोलना, ये सब आर्य-वाणी के शत्रु हैं। भगवान ने कहा है कि "भिक्षुओ! आपस में इकट्ठे होने पर दो बातों में से एक बात होनी चाहिये। या तो धार्मिक बातचीत या फिर आर्य मौन।"

यह आय मौन सहज नही है। निरन्तर साधनों से ही सिद्ध हो सकता है। हमने आज अनेक ऐसी बातें सीख ली हैं, जिन्हें भुलाने की आवश्यकता है, ऐसी आदतें डाल ली हैं, जिन्हें यदि हम नहीं छोडते तो न हमारा कल्याण है और न समाज का कल्याण है।

जीव-हिंसा से विरत रहना, चोरी से विरत रहना, काम-भोग सम्बन्धी मिथ्याचार से विरत रहना सम्यक् कर्मान्त है।

सम्यक्-वाणी और सम्यक्-कर्मान्त दोनों नकारात्मक प्रतीत होते हैं। किंतु आदमी के चरित्र की परीक्षा कुछ न करने में ही होती है। प्रलोभन है, अवसर है और तब भी शीलरूपी शिला पर खडा रहनेवाला ही सच्चा सदाचारी है।

समाधि के तीनों अङ्ग—सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि, हमें अपने आन्तरिक विकास की सीढी पर चढ़ना सिखाते हैं। हमारा चेतन-मन जो कुछ करता है, वह हमारे अचेतन मन की कृति के मुकाबले में बहुत थोडा है। चेतन-मन से अचेतन-मन बनता है किन्तु फिर अचेतन हमारे चेतन-मन पर भी शासन करने लगता है। हम किसी सकल्प-विशेष के अनुसार कार्य करना चाहते हैं, किन्तु समय आने पर जो हम ठीक उससे उलटा ही करते हैं, यह हमारे अचेतन मन की कृपा है। इस अचेतन मन को बदल डालना हो तो समाधि-मार्ग ही एक मात्र मार्ग है। विसुद्धि मग्गो नामक विशाल पालि-ग्रन्थ समाधि-मार्ग के यात्रियों का बडा सहारा है। अभी तक हमने पातञ्जलयोगसूत्रों को ही जाना है। 'विसुद्धि-मग्गो' उनकी अपेक्षा बड़ा और अधिक स्पष्ट है।

शील-समाधि का फल प्रज्ञा-प्राप्ति ही है।

जीवन का उद्देश्य

'भिक्षुओं, इस श्रेष्ठ जीवन का उद्देश्य न तो लाभ-सत्कार की प्राप्ति, न प्रशसा की प्राप्ति, न सदाचार के नियमों का पालन, न समाधि-लाभ और न ज्ञानी बनना। भिक्षुओं, जो चित्त की अचल विमुक्ति है, वही इस श्रेष्ठ जीवन का असली उद्देश्य है वही सार है उसी पर खात्मा है।"

इसी प्रकार का अर्हत भिक्षु जब शरीर छोडता है तो उसके पाँच स्कन्धों का क्या होना है? बुद्ध-धर्म की सारी परमार्थशिक्षा रूप, नाम, चित्त, चैतसिक और

निर्वाण भर ही है। 'अभिधम्मत्थ संगहो' मे आज के फिजिक्स के पण्डितों के विचारार्थ रूप का विश्लेषण और मानस शास्त्रियो के विचारार्थ चित्त चैतसिकों का विश्लेषण बडे विस्तार से दिया गया है। रूप तथा नाम और mind and matter यही सब ससार है। इसलिये अर्हत प्राप्त भिक्षु के अर्हत्व प्राप्त कर लेने के कारण तृष्णा से उत्पन्न होनेवाले शरीर की उत्पत्ति रुक जाती है। तृष्णा का क्षय न होने से जो शरीर उत्पन्न हुआ होता, अब वह नही होता। जब हम बिजली का बटन दबा देते हैं तब क्या होता है? बिजली का बटन न दबाने से जो बिजली का बल्ब जलता रहता, उसका जलना नहीं होता। कोई चीज नष्ट नहीं होती। केवल किसी चीज के अस्तित्व में आने में बाधा पड जाती है। अतीत-दुःख तो अतीत हो ही गया। उसका क्षय नही होता। वर्तमान दुःख वर्तमान में है ही, उसका नाश क्या होगा? हाँ भावी ही वह दुःख है, जो अभी वर्तमान नहीं बना है और इसी लिये केवल उसी का नाश सम्भव है।

सभी भावी दुःखों के एकान्तिक निरोध का ही दूसरा नाम निर्वाण है।

महाकवि अश्वघोष ने सोन्दरानन्द काव्य में निर्वाण को उसी प्रकार व्यक्त किया है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनि गच्छति नातरिक्ष।
दिश न कांचिद् विदिश न काचिद्,
स्नेहक्षपात्केवलमेति शाति॥
एव कृती निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनि गच्छति नातरिक्ष।
दिश न काचिद् विदिश न काचिद्,
क्लेशक्षयात् केवलमेति शाति॥

[जिस तरह से बुझा हुआ दीपक न पृथ्वी की ओर जाता हे और न आकाश की ओर, न दिशा की ओर और न विदिशा की ओर। वह तेल के क्षय होने के कारण शान्ति को प्राप्त हो जाता हे। उसी प्रकार जीवन-मुक्त जब निर्वाण को प्राप्त होता है तो न दिशा की ओर जाता न विदिशा की ओर। उसी प्रकार न पृथ्वी की ओर जाता है न आकाश की ओर, और वह क्लेश के क्षय होने से शान्ति को प्राप्त होता हे।]

संघ

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

तीन तरह के व्यक्ति

अपनी-अपनी सामर्थ्य और प्रवृत्ति के अनुसार बौद्ध साधक तीन भिन्न आदेशों का अनुकरण करते हैं। कल्पना कीजिये कि एक शहर जल रहा है। एक आदमी है, जो अपने आपको बचा सकता है, लेकिन अपनी जान को भी खतरे में डालकर वह दूसरों को बचाने का प्रयत्न करता है। उसे आप क्या कहेंगे? उस तरह का आदमी बोधिसत्व कहलाता है। व्यक्तिगत मोक्ष उसे हस्तामलकवत् है, किन्तु वह उसे अस्वीकार करता है। वह कहता है...

'मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेण अरसिकेन किं?॥'

[दूसरे प्राणियों को मुक्त होते देखकर मेरे मन में जो आनन्द की लहरें उठती हैं, वे ही मेरे लिए पर्याप्त हैं—इस अलोने मोक्ष को लेकर क्या करूँगा?]

अथवा—नात्वह कामये राज्य न स्वर्गं नापुनर्भव,
कामके दुःखतप्ताना प्राणिनां आर्तिनाशनम्॥

[न मैं 'राज्य' चाहता हूँ, न 'स्वर्ग' चाहता हूँ और न 'मोक्ष' चाहता हूँ। मैं केवल दुःख से पीड़ित प्राणियों के दुःख का नाश चाहता हूँ।]

वह 'सत्व' जानता है कि संसार के सब प्राणियों का उद्धार करने का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये उसे सम्यक् सबोधि लाभ करने के अतिरिक्त इधर कहीं नहीं रुकना चाहिये। वह बोधिसत्व है। वह बुद्धांकुर है। वह बुद्धत्व के मार्ग पर आरूढ़ है।

अब एक दूसरे आदमी की कल्पना कीजियै, जो जलते हुए शहर में स्वयं भाग निकला है, किंतु उसका इतना सामर्थ्य नहीं कि किसी दूसरे को बचा सके। उसके लिये यही बड़ी बात है कि उसने अपने भाग निकलने के लिये अपना रास्ता--सही रास्ता--ढूँढ़ निकाला है। ऐसे व्यक्ति को आप क्या कहेंगे? ऐसा व्यक्ति ही प्रत्येक-बुद्ध है। वह बुद्ध की तरह ही स्वय मार्ग का आविष्कार

करता है, किन्तु किसी दूसरे को उस पर चलाने की न उसे चिन्ता होती है और न शायद सामर्थ्य ।

अब एक तीसरे व्यक्ति की कल्पना कीजिये, जो जल रहा है, किन्तु जो जलते हुए नगर से निकल नहीं सकता, क्योंकि उसे रास्ता ही नहीं मालूम है। अब कोई आता है और उसे बताता है.. यह है इस जलते हुए नगर से निकलने का मार्ग । वह जैसे-तैसे अपने प्राण बचाकर निकल खड़ा होता है। आप ऐसे व्यक्ति को क्या कहेंगे ? ऐसा व्यक्ति अर्हत् कहलाता है । आप शायद उसे दोष दें कि स्वार्थी कहीं का ! केवल अपनी जान लेकर भागता है। प्रश्न स्वार्थी-अस्वार्थी का नहीं है । प्रश्न सामर्थ्य का है । जो केवल अपनी ही जान बचा सकता है, वह अपनी भी जान क्यों न बचाये ? जिसमें अपने साथ दूसरों की जान बचाने का सामर्थ्य है, उसी का तो धर्म है न कि केवल अपनी जान न बचाये । इस प्रकार बुद्ध-धर्म में अल्प सामर्थ्य व्यक्ति के सामने अर्हत्व प्राप्ति का मार्ग और महा पुण्यवान् व्यक्ति के लिये बोधिसत्व होने अथवा बुद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग खुला है—दोनों की गुंजायश है ।

मार्ग-फल

आप प्रत्येक-बुद्धत्व और बुद्धत्व को छोड़िये । यही क्या कम बड़ी बात है कि आदमी किसी बुद्ध के दिखाये हुए आर्य-मार्ग पर चलकर संसार-सागर को पार कर सके ? इस आर्य-मार्ग पर चलने का प्रयत्न करनेवालों में सबसे पहली सीढ़ी पर वे लोग है, जिन्हें हम (स्रोतापन्न) कहते हैं, अर्थात् वह अब मुक्ति की धारा में आ पड़े । अब उनकी मोक्ष-प्राप्ति निश्चित है। दूसरी सीढी पर वे लोग हैं, जिन्हें हम (सकृदागामी) कहते हैं । अब यदि उन्हें जन्म-मरण के चक्कर में आना पड़ेगा तो वे केवल एक बार इस संसार में आयेंगे और उनके आगे की सीढी पर वे लोग हैं, जिन्हें हम (अनागामी) कहते है, अर्थात् अब यहाँ से च्युत होने के बाद किसी ब्राह्म लोक में उनकी उत्पत्ति भले ही हो किन्तु अब वे फिर इस लोक में आने के नहीं । सबसे ऊँची और अन्तिम सीढो है अर्हत् । अर्हत्व-प्राप्त को अब और कुछ करना बाकी नहीं रह गया । जिस उद्देश्य की प्राप्ति

के लिये कुल-पुत्र घर से बेघर होते है, उसने उस उद्देश्य को प्राप्त कर लिया, वह सदा के लिये जाति, जरा-मरण के बंधन से छूट गया।

इन्हीं चारों को मार्ग-प्राप्त और फल-प्राप्त के भेद से चार जोड़े अथवा आठ तरह के पुद्गल मानकर सच्चे अर्थों में 'आर्य' कहा जाता है। इन्हीं का संघ वास्तविक सघ है। इस आर्य-सघ में स्त्री, पुरुष का भेद नहीं; गृहस्थ-प्रव्रजित का भेद नहीं। हम जब 'सघ शरण गच्छामि' कहते हैं तो हमारा तात्पर्य इन्ही श्रेष्ठ पुद्गलों के सघ से होता है, होना चाहिये, जो आर्य अष्टागिक मार्गरूपी सडक के यात्री हैं और उस पर एक, दो या तीन मजिल आगे बढ चुके है। हम प्रति-दिन उसी आर्य संघ को इस प्रकार याद करते है :

सुपटिपन्नो भगवतो सावकसघो
जायपटिपन्नो भगवतो सावकसघो
सामीचिपटिपन्नो भगवतो सावकसघो

यदिद चत्तारि पुरिस-युगानि अट्ठ पुरिसपुग्गला एस भगवतो सावकसघो, आहुनेया पाहुनेया, दक्खिनेया, अञ्जलिकरणीयो अनुत्तरं, पुञ्ञखेत्त लोकस्साति।

[ठीक रास्ते पर चलनेवाला भगवान् का श्रावकसंघ है, न्याय-मार्ग पर चलनेवाला भगवान् का श्रावकसघ है, समीचीन मार्ग पर चलनेवाला भगवान् का श्रावकसघ है। ये जो चार पुरुषों के जोडे अर्थात् आठ पुरुष है—ये भगवान् के श्रावकसघ हैं—आदरणीय, सत्कार करने योग्य, दक्षिणा के योग्य, हाथ जोडने योग्य, लोक के लिये श्रेष्ठ पुण्यक्षेत्र है।]

किन्तु यह सघ का एक प्रकार का पारमार्थिक अर्थ है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। जिन कुल-पुत्रो ने बुद्ध की शरण ग्रहण की और घर से बेघर हुए, उन घर से बेघर हुओं का भी शनैः शनैः अपना एक समाज बन गया—सघ बन गया। आज दिन 'सघ' शब्द बहुत करके इसी अर्थ में रूढ हो गया है।

बौद्ध सामाजिक व्यवस्था

भारत में अबौद्ध समाज व्यवस्था वर्णाश्रमी व्यवस्था कहलाती है। बुद्ध को यह व्यवस्था स्वीकृत न थी। उनके प्रभाव से इस चतुर्वर्णी व्यवस्था की जड़

हिली और इसकी जगह द्विवर्णी व्यवस्था आरम्भ हुई पीत-वर्णी और श्वेतवर्णी।

आश्वलायन माणवक ने पूछा - "हे गौतम ! ब्राह्मण कहते हैं— ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण हैं, दूसरे वर्ण छोटे हैं, ब्राह्मण ही शुक्लवर्ण हैं, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं, ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, मुख से उत्पन्न ब्रह्मज, ब्रह्मनिर्मित, ब्रह्मा के दायाद हैं। इस विषय में आपका क्या मत है?"

तथागत ने मुँहतोड उत्तर दिया 'आश्वलायन ! ब्राह्मणों की ब्राह्मणियाँ ऋतुमती, गर्भिणी, जनन करती, दूध पिलाती देखी जाती हैं। योनि से उत्पन्न होते हुए भी वह ब्राह्मण ऐसा कहते हैं ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण हैं,"

"यद्यपि आप गौतम ऐसा कहते हैं, फिर भी ब्राह्मण ऐसा ही कहते हैं... ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण हैं।"

"तो क्या मानते हो आश्वलायन ! तुमने सुना है कि यवन और कम्बोज में और दूसरे भी सीमान्त देशों में दो ही वर्ण होते हैं—आर्य और दास। आर्य दास हो सकता है और दास आर्य हो सकता है?"

"हाँ भो ! मैंने सुना है कि यवन और कम्बोज में...हो सकता है।"

"आश्वलायन ! ब्राह्मणों को क्या बल है, क्या आश्वास है, जो ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण हैं।"

"तो मानते हो आश्वलायन ! क्या ब्राह्मण ही पापकर्मों से विरत हो सकते हैं क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नहीं?"

"नहीं हे गौतम ! क्षत्रिय भी, वैश्य भी, शूद्र भी।"

"आश्वलायन ! तब ब्राह्मणों को क्या बल है?"

"तो क्या मानते हो आश्वलायन ! यदि क्षत्रिय-कुमार ब्राह्मण-कन्या के साथ सवास करे। उनके सहवास से पुत्र उत्पन्न हो। जो वह क्षत्रिय-कुमार द्वारा ब्राह्मण-कन्या मे पुत्र उत्पन्न हुआ, क्या वह पिता के समान 'क्षत्रिय है' कहा जाना चाहिये?"

"हे गौतम ! कहा जाना चाहिये।"

"और यदि ब्राह्मण-कुमार क्षत्रिय-कन्या के साथ संवास करे ?"

"हे गौतम ! उसे 'ब्राह्मण है' कहा जाना चाहिये।"

"आश्वलायन ! यहाँ घोड़ों को गदहे से जोड़ा खिलायें तो क्या 'घोड़ा है', 'गदहा है' कहा जाना चाहिये ?"

"हे आश्वलायन ! वह खच्चर कहलाता है। यहाँ तो भेद दिखाई देता है ! वहाँ कुछ नहीं दिखाई देता।"

इस एक सूत्र से पता लगता है कि भगवान् बुद्ध ने इस ब्राह्मण-शिरोमणि व्यवस्था को जड़ से हिला दिया था। उनका कहना था कि पशु-पक्षियों तथा अन्य जानवरों के आकार-प्रकार नाना तरह के होते है, तो उनकी नाना जातियाँ ठीक है, किन्तु मनुष्यो मे तो सभी के नाक, कान, मुँह एक जैसे होते हैं तो इन मनुष्यो की नाना जातियाँ क्यों ?

बौद्ध सामाजिक व्यवस्था

बुद्ध ने जिस समाज-व्यवस्था की कल्पना की और जिसे चलाया, उसमें समी मानव समान थे। जो चाहें गृहस्थ रहें और जो चाहे भिक्षु बनें। आवश्यक गुण रहने पर किसी भी जाति का कोई भी व्यक्ति भिक्षु बन सकता था, बन सकता हे और एक बार भिक्षु बना हुआ व्यक्ति भी यदि किसी भी कारण से सघ में न रह सके तो पुनः उपप्रव्रजित हो सकता है अर्थात् काषय वस्त्रधारी से श्वेत वस्त्रधारी हो सकता है।

जहाँ तक गृहस्थ-धर्म की बात है, बुद्ध का गृहस्थों के लिए धर्म हर स्थान और हर समय के लिए इतना ठीक बैठता है कि किसी भी देश समाज का आदमी उसे जब चाहे अपना सकता है। उसमें जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त सोलह सस्कार जैसी कोई चीज नहीं है। बौद्ध देशों में कई बौद्धसस्कार प्रचलित है, किन्तु वे सब स्थानीय देशज संस्कार हैं। सभी सस्कारों में बौद्ध धर्म का समावेश है, किन्तु उनमें से कोई एक भी सस्कार ऐसा नही, जो सारे बौद्ध देशों में समान रूप से प्रचलित हो। गृहस्थों के लिए भगवान् बुद्ध ने जो उपदेश दिये हैं, वे विस्तार पूर्वक दिये गये हैं और पृथक् पृथक् हैं।

शृगाल नाम का एक तरुण अपने पिता की मृत्यु पर छः दिशाओं को नमस्कार किया करता था। भगवान् ने उसे बताया कि माता-पिना पूर्व दिशा हैं और उनके प्रति अपने धर्मों का सम्यक् पालन ही पूर्व दिशा को प्रणाम करना है। इसी प्रकार आचार्यगण दक्षिण दिशा है। पुत्र-स्त्री पश्चिम दिशा हैं। मित्रामात्य उत्तर दिशा हैं। दास कमकर नीचे की दिशा हैं। और श्रमण ब्राह्मण ऊपर की दिशा हैं।

भगवान् ने शृगाल को सभी के प्रति उसके कतव्यों का ऐसा विस्तृत उपदेश दिया है कि इतने प्राचीन वाङ्मय में अन्यत्र ऐसा आचारशास्त्र मिलना सहज नहीं।

और भिक्षु-जीवन के लिये तो शनैः शनैः इतने नियमों की भरमार हो गई कि एक भिक्षु ने भगवान् के पास जाकर कहा कि मैं प्रव्रज्या से मुक्त होता हूँ क्योंकि मैं इतनी बडी नियमावली का पालन नहीं कर सकता। भगवान् ने पूछा– तू कितने नियमों का पालन कर सकता है? वह चुप था। भगवान् ने पूछा— "केवल तीन नियमों का पालन कर सकेगा?" उसने स्वीकार किया। भगवान् ने कहा—तो अच्छा काय, वाक, मन का सयम रखना। सचमुच इतने ही में तो सभी नियम आ जाते हैं।

भिक्षु की प्रव्रज्या

जिस प्रकार सभी काम सीखने जाने पर आदमी को एप्रेंटिस रहना पडता है, उसी प्रकार उपसम्पन्न भिक्षु होने से पहले प्रव्रजित हो जाने पर कुछ समय तक श्रामणेर रहना पडता है। २० वर्ष से कम आयुवाला कोई भी हो, उपसपन्न भिक्षु नहीं हो सकता। प्रव्रज्या तो किसी को किसी भी बौद्ध आचार्य से मिल सकती है, किन्तु उपसम्पदा तो संघ से ही मिल सकती है।

भिक्षु की उपसम्पदा

किसी भी एक व्यक्ति को यह अधिकार नहीं चाहे वह कितना ही बडा पूज्य महास्थविर क्यों न हो कि वह किसी को उपसम्पन्न कर सके। मध्य मण्डल में कम-से-कम बीस भिक्षु इकट्ठे हो तो किसी इक्कीसवें को वह अपने में से एक बना सकते हैं और मध्य-मण्डल से बाहर यह संख्या कम-से-कम दस होनी

चाहिये। यह प्राचीन समय का नियम है जब मध्य-मंडल में भिक्षुओं की कमी न थी। आज सिंहल, बर्मा आदि में तो जितने चाहें उतने भिक्षु इकट्ठे हो सकते हैं, हो जाते हैं किन्तु मध्य-मण्डल में बीस भिक्षु इकट्ठे कर सकना आसान नहीं।

भिक्षु-जीवन की चार विशेषताएँ

चार बातें हैं, जो मैं समझता हूँ कि पिछले हजार वर्ष के इतिहास में भिक्षु-संघ का बल सिद्ध हुई हैं और एक उसकी सबसे बड़ी निर्बलता।

जाति-भेद का अभाव

(१) पहली बात जो भारत के इतिहास में बड़ी ही क्रांतिकारी सिद्ध हुई, वह यह थी कि बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के संघ के दरवाजे मानव मात्र के लिये खुले रहे हैं। उपसम्पदा के समय आज भी उपसम्पदापेक्षी भिक्षु से अनेक प्रश्न पूछे जाते हैं। क्या तुम्हारी आयु पूरी बीस वर्ष की हो गई है? उसे कहना होता है "आम (हाँ) भन्ते!"

उससे दमा आदि अनेक बीमारियों का नाम लेकर पूछा जाता है कि उनमें से कोई बीमारी तो नहीं है?

उसे कहना होता है "नत्थि (नास्ति) भन्ते!"

तब उससे पूछा जाता है कि किसी का कर्जदार तो नहीं है?

उसे कहना होता है "नत्थि भन्ते!"

तब उससे पूछा जाता है कि उसके पास जितने चाहिये, उतने पात्र-चीवर तो हैं?

वह कहता है—"आम! भन्ते!"

जो प्रश्न उससे नहीं पूछा जाता है और ढाई सहस्र वर्ष के बौद्ध इतिहास में नहीं पूछा गया, वह प्रश्न है

"तुम्हारी जाति क्या है?"

यह प्रश्न उससे नहीं पूछा जाता, नहीं पूछा जाता। भगवान् ने कहा है—भिक्षुओ, जैसे इतनी बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं जैसे गंगा, यमुना, अचिरवती, सरभु, मही, वे सभी महासमुद्र के नाम से जानी जाती हैं, वैसे ही क्षत्रिय,

ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र....चारो वर्णों के जो लोग इस धर्म-विनय में घर से बेघर होकर प्रव्रजित होते हैं, अपने पहले नाम-गोत्र को छोड सभी शाक्य-पुत्र अर्थात् बौद्ध-भिक्षु ही कहलाते हैं।

"तो क्या भिक्षु-संघ में सभी बराबर होते हैं ?"

"नहीं, भिक्षु-संघ में भी बड़ा-छोटा होता है, किन्तु वह उपसम्पदा के क्रम से होता है।"

भगवान् ने आज्ञा दी है—भिक्षुओ, वृद्धपन के अनुसार अभिवादन, प्रत्युपस्थान, हाथ जोडना, कुशल-प्रश्न, प्रथम-आसन, प्रथम-जल, प्रथम परोसा देने की अनुज्ञा देता हूँ...पीछे उपसम्पन्न द्वारा पिछले उपसम्पन्न वन्दनीय हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय-सगठन

(२) इस सङ्गठन की दूसरी बडी विशेषता है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन है। प्रायः लोग पूछते है कि ईसाइयों के पोप की तरह क्या बौद्ध-धर्म में भी कोई पोप होता है ? नही, हो ही नहीं सकता। यूँ सिंहल, स्याम, बरमा में अपने-अपने अपने सघ-राज हैं, किन्तु यदि वे सब कहीं एक जगह इकट्ठे हो जायँ तो फिर वे आपस में वही देखेंगे कि कौन पहले उपसम्पन्न हुआ है ? किसी देश के भी दो भिक्षु मिलने पर पहला प्रश्न यही करते है—कति वस्सोसि ? अर्थात् आप कितने वर्ष से उपसम्पन्न हैं ? उत्तर मिलने पर ही कौन किसको प्रणाम करे तो होता है। जिनके बारे में परस्पर जानकारी रहती है, वहाँ ऐसा प्रश्न पूछा नहीं जाता।

व्यक्ति नही सघ की प्रधानता

(३) तीसरी बात जो एक प्रकार से इस दूसरी बात के ही अन्तर्गत है, वह यह है कि सघ में किसी बडे-से बड़े व्यक्ति की भी प्रधानता नहीं मानी जाती। भगवान् बुद्ध बडे है, बहुत बडे हैं, किन्तु सघ उनसे भी बडा है।

एक बार भगवान् शाक्यों में कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार कर रहे थे। तब महाप्रजापती गौतमी, जो भगवान् की मौसी लगती थी, नये धुस्से के जोडे लेकर भगवान् के पास पहुँची। आकर भगवान् को प्रणामकर बैठ गई। एक ओर बैठी महाप्रजापती गौतमी ने भगवान् को यों कहा :—

"भन्ते। अपना ही काता, अपना ही बुना, मेरा यह नया धुस्सा जोडा भगवान् को अर्पण है भन्ते! भगवान् अनुकम्पा कर इसे स्वीकार करें।"

ऐसा कहने पर भगवान् महाप्रजापति गौतमी से बोले

"गौतमी, इसे सघ को दे। सघ को देने से मैं भी पूजित होऊँगा और सघ भी पूजित होगा।"

दूसरी वार भी महाप्रजापति गौतमी ने अपनी प्रार्थना दोहराई। दूसरी वार भी भगवान् ने वही उत्तर दिया।

तीसरी वार भी प्रजापती गौतमी ने अपनी प्रार्थना दोहराई। तीसरी बार भी भगवान् ने वही उत्तर दिया।

आयुष्मान् आनन्द ने भी प्रजापति गौतमी की सिफारिश की—"भन्ते! भगवान् महाप्रजापति गोतमी के धुस्सा; जोडे को स्वीकार करें। भन्ते! अभिभाविका पोषिका क्षीरदायिका होने से भगवान् की मौसी महाप्रजापति गौतमी वहुत उपकार करनेवाली है। इसने जननी के मरने पर भगवान् को दूध पिलाया है—"भगवान् के सामने आनन्द की एक सिफारिश न चली। भगवान् ने कहा—"आनन्द, भविष्य में भिक्षुनाम धारी काषाय मात्र-धारी, दुःशील, पापी भिक्षु होंगे। लोग सघ के नाम पर उन्हें दान देंगे। उस वक्त भी आनन्द! मैं संघ-विषयक दान को असीम फलवाला कहता हूँ। आनन्द! मैं किसी तरह भी सघ को दिये गये दान से व्यक्ति को दिये गये दान को बडा अधिक फल देनेवाला नहीं कहता हूँ।"

दान के ही विषय में नही, सभी विषय में सघ की प्रधानता रहती हे। भिक्षु-सघ का सगठन वज्जियों के गण तन्त्र के सङ्गठन के ढङ्ग पर हुआ प्रतीत होता है। लोग समझते है कि प्रस्ताव-अनुमोदन, बहुमत का निर्णय आदि आधुनिक बातें है। आप बौद्ध सघ की किसी मीटिंग में इन्हें ज्यों-का-त्यो देख सकते। वे प्रस्ताव को 'ञत्ति' कहते हैं। उसका तीन वार अनुस्सावन, घोषणा होती है। रङ्गीन शलाकाओ की मदद से आजकल के वैलेट वक्स की तरह छन्द (वोट) इकट्ठे किये जाते हैं और बहुमत (भूयिसका) से निर्णय होते है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव

(४) संघ की अन्तिम और सबसे बड़ी विशेषता है उसके सदस्यों के पास किसी व्यक्तिगत सम्पत्ति का न होना। जिस समय भिक्षु उपसम्पन्न होता है, उस समय उससे जो यह पूछा जाता है कि 'परिपुण्णचीवरोसि' अर्थात् क्या तेरे पात्र-चीवर सम्पूर्ण है? उसमें पात्र-चीवर के अन्तर्गत आठ चीजें आती हैं—

(१) तीन चीवर एक अन्तरवासक, तहमत की तरह की आधी धोती समझिये, दूसरा उत्तरासंघ अर्थात् उत्तरीय अथवा ऊपर की चादर, तीसरा संघाटी अर्थात् दोहरी चादर। यह सभी टुकड़े काट-काटकर मगध के खेतों की तरह सिये जाते हैं। उद्देश्य दो हैं—(१) चीथड़ों से सिले हुए कपड़ों के साथ वर्दी की समानता रहना (२) गृहस्थों के कपड़ों से ऐसी पक्की भिन्नता रहना, जो रङ्ग धो डालने पर भी न नष्ट हो।

(२) भिक्षापात्र—यह केवल लोहे का या मिट्टी का ही हो सकता है। अन्य पात्रों का निषेध है।

(३) पानी छानने का कपड़ा

(४) सुई-धागा

(५) छुरा

(६) काय बन्धन।

ये कुल आठ चीजें ही भिक्षु की सम्पत्ति है। शेष सब कुछ सांघिक ही हो सकता है और होता है। इन्हें भिक्षु जहाँ-जहाँ जाता है अपने साथ ही ले जाता है। स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करनेवाले भिक्षु की उपमा आकाश मे स्वतन्त्रता-पूर्वक विहार करनेवाले पक्षी से दी गई है। जिस प्रकार पक्षी जब आकाश में उड़ता है तो अपने पंखों के भार को साथ लेकर ही उड़ता है, उसी प्रकार भिक्षु जब कहीं भी जाता है तो अपना पात्र-चीवर साथ लेकर ही जाता है।

सिंहल, स्याम, बर्मा में जहाँ आज भी बुद्ध-धर्म अपने जीवित स्वरूप में विद्यमान है, कोई भी भिक्षु देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रत्येक एक दो मील पर बने हुये विहारों में ठहरता हुआ चारिका कर सकता है।

अनेक सामाजिक बुराइयो की जड

व्यक्तिगत सम्पत्ति अनेक सामाजिक बुराइयों की जड है, . यह साम्यवाद का मुल सिद्धान्त आज सभी की जिह्वा पर हैं। बुद्ध ने इसे बहुत पहले समझ लिया था। अग्गञ्ज-सुत्त (दोर्घ निकाय) में भगवान् वैयक्तिक सम्पति की चर्चा करते हुए कहते हैं ·

"वाशिष्ट ! तब किसी आलसी के मन में यह आया...शाम-सुबह दोनों समय धान-शाली लाने के लिये जाने का कष्ट क्यों करें ? क्यो न एक ही बार शाम-सुबह दोनों के खाने के लिये शालिं ले आवें। तब वह प्राणी एक ही बार शाम-सुबह के लिये धान ले आया। तब कोई दूसरा प्राणी उस प्राणी के पास गया, जाकर बोला आओ, हम लोग धान लाने के लियें चलें !

'हे प्राणी ! हम शाम-सुबह दोनों समय धान लाने का कष्ट क्यों उठावें? हम शाम सुबह दोनों समय के लिये एक ही बार धान ले आये हैं।'

तब उसकी देखा-देखी वह भी शाम-सुबह दोनों समय के लिये एक ही बार धान ले आया। फिर दो दिन के लिये। चार दिन के लिये। आठ दिन के लिये।

तब लोगों ने धान बांट लिये और मेड बाँध दी।

हे वाशिष्ट ! तब कोई लालची आदमी अपने भाग की रक्षा करता हुआ दूसरे के भाग को चुराकर खा गया। उसे लोगों ने पकड लिया। पकडकर बोले—अरे आदमी ! तुम यह पाप-कर्म करते हो, जो कि दूसरे के भाग के चुराकर खा रहे हो। फिर ऐसा मत करना।

किन्तु, वह बार-बार ऐसा ही करता रहा।

तब कोई उसे हाथ से मारने लगे, कोई ढेले से और कोई लाठी से।

वाशिष्ट ! उसी के बाद से चोरी, निंन्दा, मिथ्या भाषण और दण्ड-कर्म होने लगे।"

बुद्ध के सघ में व्यक्तिगत सपत्ति के लिये स्थान न था और जो सांघिक थी, उस पर संघ का बराबर अधिकार था।

दो न्यूनताये

पिछले दो ढाई हजार वर्ष के इतिहास ने इस व्यवस्था में दो कमियॉ दिखाई हैं।

(१) चारों ओर सभी लोगों के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति रहने देकर केवल भिक्षु-सघ के सदस्यों के लिये व्यक्तिगत सम्पत्ति निषेध से जिस सामाजिक कल्याण की अपेक्षा थी, वह नही ही सिद्ध हो सका। शायद उस व्यक्तिगत सम्पत्ति-निषेध का मुख्य उद्देश्य भी सामाजिक कल्याण की अपेक्षा व्यक्तिगत कल्याण ही अधिक था।

(२) व्यक्तिगत-सम्पत्ति के अतिरिक्त साघिक सम्पत्ति में जो सभी का समानाधिकार था, वह समानता केवल वितरण की समानता थी, उत्पादन की समानता नही थी अर्थात् दान में मिली हुई वस्तुओं का बराबर-बराबर बाँट खाना मात्र था, कुछ सम्मिलित उद्योग द्वारा पसीने की कमाई को बराबर-बराबर मिलकर बाँट खाना नहीं था।

इसका परिणाम अच्छा न हुआ। भिक्षुओं को पात्र-चीवर आदि आठ वस्तुऍ भी दान-द्वारा ही प्राप्त होती थी और भिक्षु-सघ को विहार-आराम आदि भी दान-द्वारा ही।

दान

यूँ दान-दाता और प्रतिग्राहक दोनों के लिये कल्याणकारी होता है, किन्तु जब उसके भीतर की तेजस्विता जाती रहती है और वह उभय पक्ष के लिये एक तरह का जड व्यापार बन जाता है तो दान से बढकर दाता और प्रतिग्राहक दोनों को गर्त में गिरानेवाली कोई चीज नहीं।

चरित्र की ऊँची से ऊँची सीढी पर चढने का प्रयत्न करनेवाले के प्रति श्रद्धा उमडती ही है, उमडती रही है और उमडती रहेगी। जहॉ श्रद्धा है, वहॉ लाभ और यश है ही। लाभ और यश में एक नशा है, जो आदमी को चरित्र की ओर से उदासीन तथा लाभ और यश के प्रति आसक्त बनाता है। तब चाहे कोई व्यक्ति हो अथवा समाज-विशेष हो, उसके लिये यह कोई बहुत

अनोखा बात नहीं रहती कि वह लाभ तथा यश के लिये सभी उचित-अनुचित उपायों का अवलम्बन करना आरम्भ करे।

क्या हमारा आज का समाज सामाजिक क्राति के प्रथम पुरोहित भगवान् बुद्ध द्वारा स्थापित किए इस महान् भिक्षु सघ के इतिहास से कुछ शिक्षा ग्रहण करेगा ?

ईसापूर्व छठी शताब्दी एसिया भर में पुनर्जागरण की शताब्दी सिद्ध हुई है। भारत में बौद्ध-संघ की स्थापना का भी यह युग है।

बौद्ध-सघ की परम्परा अनेक महान् संस्थाओं की तरह एक क्रमिक-विकास और साथ-साथ शायद क्रमिक-ह्रास का भी परिणाम है। भगवान् बुद्ध से जब भिक्षु सघ के लिये नियम बनाने को कहा गया, तो उन्होंने उत्तर दिया कि नियम तो यथा आवश्यकता बना करते हैं।

भिक्षु सघ के नियमों का इतिहास, वे कर्म बने कब बने, किसी परिस्थिति में बने तथा भगवान् बुद्ध द्वारा देश—कालानुसार छोटे-मोटे नियमों को बदल डालने के लिये दी गई अनुमति इस बात का प्रमाण है कि भिक्षु सघ के नियम सघ के विकास में सहायक होने के लिये ही बने थे।

धर्म-प्रचार

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद राजगृह की प्रथम संगीति, वैशाली की द्वितीय सगीति और राजगृह की तृतीय सगीति बौद्ध संघ के इतिहास के वे शिलास्तम्भ हैं वे माईल स्टोन—जिनके पास से होकर ही भिक्षु सघ के इतिहास की पगडडी गुजरी है। तृतीय सगीति की समाप्ति पर ही मोग्गलिपुत्त तिस्स ने अशोक की सहायता से भिन्न-भिन्न देशों में धर्म-प्रचारक भेजे। महावश ने, कौन महास्थविर किस पडोसी देश में भेजे गये का लेख हमारे लिये सुरक्षित रखा है।

स्थविर मज्झन्तिक (माध्यान्तिक) को काश्मीर और गधार[1] को भेजा और महादेवस्थविर को महिष्मण्डल[2] भेजा ॥३॥ रक्षित नामक स्थविर को बनवास[3]

(१) पजाब में पेशावर और रावलपिण्डी का जिला

(२ आधुनिक खान्देश, नर्मदा से दक्षिण

(३ वर्तमान मैसूर का उत्तरीय भाग।

की ओर भेजा, और यवन धम्म रक्षित को अपरान्त[४] देश में भेजा। महाधर्म रक्षित को महाराष्ट्र में (और) महारक्षित को यवन लोगों में भजा ॥५॥ हिमवन्त (हिमालय) प्रदेश में मज्झिमस्थविर को भेजा (और) स्वर्ण भूमि[५] में सोण और उत्तर दो स्थविर भेजे ॥६॥ अपने शिष्य महा महेन्द्रस्थविर तथा इट्ठीय, उत्तीय, सम्बव और भद्दशाल इन पाँच स्थविरों को यह कह कर लका भेजा—तुम मनोज्ञ लका-द्वीप में मनोज्ञ बुद्ध धर्म की स्थापना करो ॥७-८॥

मौर्य-सम्राट बुद्ध पर विशेष अनुरक्त थे। इसलिये उन्हीं के समय में अनेक राजाओं और धनियों ने सभी पवित्र स्थानों पर बडे-बडे स्तूप और संघाराम (मठ) बनवाये जिनमें भिक्षु गण सुखपूर्वक रहकर धर्म प्रचार का कार्य करते थे।

मौर्यों के बाद शुग-वश का राज्य स्थापित हुआ। यह नया राज्य-वंश राजनीतिक उपयोगिता के विचार से ब्राह्मण-धर्म का पक्का अनुयायी रहा और बौद्ध धर्म का पक्का द्वेषी सिद्ध हुआ।

इसके बाद कनिष्क के समय में जब शायद भगवान् बुद्ध की पहली मूर्ति बनी, लगभग बारहवीं शताब्दी तक उस देश में बौद्ध धर्म तथा संघ का प्रबल प्रचार और अस्तित्व रहा। यू गिरता पड़ता तो यह और भी दो तीन शताब्दियाँ घिसटता रहा। अभी भी काश्मीर, नैपाल, और चटगाँव, आदि प्रदेशों में स्पष्ट रूप से तथा उडीसा आदि कुछ प्रांतों में प्रच्छन्न रूप से बुद्ध धर्म के अवशेष पडे हैं। लेकिन कालान्तर में वह शनैः शनैः एक प्रकार से भारत से सर्वथा लोप ही हो गया। क्यों और कैसे ? .. यह एक बडी कहानी है, बहुत लम्बी और साथ ही अस्पष्ट।

बौद्ध-धर्म और शकराचार्य

बुद्ध-धर्म को देश से निकालने का श्रेय अथवा अश्रेय लोग शंकराचार्य के सिरे मढ देते हैं। शकराचार्य आठवीं शती में हुए। बौद्ध धर्म के सभी नालन्दा, विक्रम शिला, ओदन्तपुरी, आदि विश्व-विद्यालय ११वीं १२वीं शताब्दी तक शकराचार्य के बहुत बाद तक फलते फूलते रहे।

शकराचार्य ने बौद्ध-धर्म को क्या जीता, सच्ची बात है वे तो स्वय बौद्ध-धर्म

(४) समुद्र तट पर बम्बई से सूरत तक का प्रदेश।

(५) वर्तमान, पेगु, बर्मा,

द्वारा जीते गये थे। उनका वेदान्त बौद्ध योगाचार दर्शन का इतना ऋणी है कि उनके विरोधियों ने यदि उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है तो कुछ ठीक ही कहा है।

सिहल

जिन देशों में बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ, उनमें से सिहल का स्थान विशेष है। सिंहल में आरम्भ से ही बौद्ध-धर्म राज-धर्म रहा। राज्य बल के साथ बौद्ध-धर्म बढ़ा और राज्य-बल के साथ बौद्ध-धर्म घटा। प्रथम शताब्दी के आस-पास सिहल में ही त्रिपिटक लेखबद्ध हुआ। पाँचवीं शताब्दी के सिंहल के मेघ-वर्ण ने बुद्ध गया में एक बौद्ध-विहार बनवाया। बारहवीं शताब्दी में राजा पराक्रमबाहु के समय सिंहल में बौद्ध-धर्म ने बडा तेजस्वी रूप धारण किया। उसके बाद कुछ ऐसी राजनैतिक उथल-पुथल रही कि तेरहवीं शती में वह भिक्षुणी-संघ जिसकी स्थापना भगवान् बुद्ध ने बड़ी ही हिचकिचाहट के साथ की थी, अन्तरधान हो गया।

१४, १५, १६वी शताब्दी बौद्ध-धर्म के लिए बहुत अच्छा समय नहीं रहा। डचों और पुर्तगीजों के अत्याचारपूर्ण युग में बुद्ध-धर्म और बौद्धो को बड़े बुरे दिन देखने पडे। १६वीं शताब्दी में सघराज शरणकर के प्रयत्नो से फिर बौद्ध-धर्म का पुनरुद्धार हुआ।

इस समय प्रत्येक सिहल बौद्ध-धर्म को उचित रूप से अपने जातीय अभिमान की वस्तु समझता है, क्योंकि सिहल की शिक्षा, कला, साहित्य, सभी बातों को यदि कहीं से प्रेरणा मिली है और मिल रही है तो वह बौद्ध धर्म ही है।

पिछली सदी में सिंहल के ही अनगारिक धर्मपाल ने महाबोधि सोसायटी की स्थापना कर एक सिंहल के नाते भारत के ऋण से उऋण होने का प्रयत्न किया है।

बर्मा

किन्तु जिस देश में सिंहल देश से भी अधिक एक तरुण जाति ने उत्साह से बौद्ध-धर्म को अपनाया वह देश है बर्मा। सिहल की तरह बर्मा में भी अशोक-गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा भेजे गये धर्म-दूतों ने ही सर्व प्रथम बौद्ध-धर्म की

स्थापना की। बीच में बर्मा में संस्कृत बौद्ध-धर्म अथवा महान-यान धर्म का भी प्रचार रहा, किन्तु इस समय तो बर्मा भी सिंहल की तरह स्थविरवाद अथवा पालि, बौद्ध-धर्म का ही केन्द्र है। बर्मा के माण्डले नगर में सारा त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथायें शिला-स्तम्भों पर अङ्कित हैं। बर्मा जाति का यह कर्तव्य कितना महान् है, इसकी कल्पना आप तभी कर सकते हैं, जब यह जानें कि त्रिपिटक के प्रत्येक ग्रन्थ पर आचार्य बुद्धघोष तथा अन्य कुछ आचार्यों द्वारा लिखे गये बडे-बडे भाष्य हैं और त्रिपिटक के साथ-साथ वे सब भी माण्डले के इन शिला-लेखों पर अङ्कित हैं।

सिंहल की अपेक्षा बर्मा के····और स्याम के भी बौद्ध जीवन की यह विशेषता है कि वहाँ प्रत्येक आदमी के लिये जीवन का कुछ समय बौद्धभिक्षु रहकर बिताना आवश्यक है। विवाह करने से पहले जो तरुण कुछ समय बौद्ध भिक्षु रह चुका हो तो विवाह के लिये यह उसकी एक अतिरिक्त योग्यता गिनी जाती है।

आलोचक बुद्धि कहती है कि यह कैसा सन्यास कि आदमी सन्यास के बाद फिर विवाह कर ले। बर्मी लोग विवाह से पहले भी और विवाह के बाद भी जब जब और जितना समय भिक्षु जीवन बिता सकें, बिताना अच्छा समझते हैं। क्या इस दृष्टिकोण के पक्ष में कहने को बहुत कुछ नहीं है?

यदि सिंहल के कैण्डी नगर के दन्त-धातु मन्दिर को अभिमान है कि वहाँ बुद्ध का दाँत रखा हुआ है तो रंगून के श्वेद गाँव दागोबा (धातु-गर्भ) को भी अभिमान है कि उसने बुद्ध के कुछ केश ही नहीं उनके साथ उनका भिक्षा-पात्र, घूमने की लाठी, तथा चीवर भी रखे हैं।

स्याम

स्याम में भी एक प्रकार से बौद्ध जीवन की वही दशा है जो सिंहल और बर्मा में है। एक बात विशेष है। सिंहल और बर्मा पराधीन हो जाने से अब वहाँ किसी बौद्ध राजा का राज्य नहीं रह गया है। स्याम अथवा थाईलैन्ड एक स्वतन्त्र बौद्ध राज्य है। राजा, राजा है, किन्तु वह बौद्ध उपासक भी है। राजा होने से जहाँ उसे राज्याधिकार प्राप्त है, बौद्ध उपासक होने से उसका दर्जा किसी

सामान्य बौद्ध गृहस्थ के ही समान है। एक दृष्टि से देश भर का संघ उसकी प्रजा है, किन्तु दूसरी दृष्टि से वह देश भर के संघ का केवल सेवक है। स्याम में इन दोनों दृष्टियों का बड़ी चतुराई से समन्वय किया गया है।

१९३४ मे में लगभग एक मास स्याम के एक विहार-बवर निवेस में रहा। वहाँ एक वयोवृद्ध सिहल महास्थविर साधु शील सवर रहते थे। वे राज्य की ओर से सम्मानित साधुओं में से थे। राज्य की ओर से देश भर के अनेक बड़े साधुओं के साथ उनकी भी कुछ मासिक आय बँधी थी, जिसमें से मै देखता था कि वह विहार में रहकर पढ़नेवाले दस, बारह निर्धन विद्यार्थियों का पालन भर करते थे। उनकी अपनी जीविका का साधन तो उनकी अपनी भिक्षा ही थी। वयोवृद्ध हो जाने से कभी-कभी उनके विद्यार्थी उनका भिक्षा-पात्र ले जाकर उनकी ओर से भिक्षा ले आते थे।

स्याम में बौद्ध-धर्म के साथ साथ विशेष रूप से वहाँ के राज्य परिवार के जीवन में ब्राह्मणी-धर्म को भी थोड़ा स्थान है।

तिब्बत

अपने सिद्धान्तो को भरसक अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न करते हुए भी बौद्ध-धर्म स्थानीय परिस्थितियों से इतना अधिक समझौता करनेवाला रहा कि जहाँ सिंहल, बर्मा, स्याम का बौद्ध-धर्म एक तरह का प्रतीत होता है, वहाँ तिब्बत के साथ-साथ लद्दास, नैपाल, भोटान, सिकिम तथा मगोलिया का बौद्ध-धर्म बिलकुल ही दूसरी तरह का।

तिब्बत में एक बुद्ध नही, न जाने कितने बुद्धों ओर बोधिसत्वों की पूजा होती है।

वहाँ के विहारों में सैकड़ों नही हजारों भिक्षु देखे जा सकते है—एकदम किलों-जैसे विहार।

कहा जाता है कि तिब्बत के विहारो की कुल संख्या "३१०० है और सम्-ये जैसे अकेले वड़े विहार में १०,००० भिक्षु रहते हैं।

बुद्ध-वचन को वे 'कजूर' कहते है तथा शेष शास्त्र-समह को 'तजूर'। पहले की वहाँ २०८ वेष्टनें कही जाती है और दूसरे की २२५।

भारतीय वाङ्मय की दृष्टि से हमारे लिए तिब्बत का बड़ा महत्व इस बात में है कि तिब्बत के शीतजल वायु ने हमारे यहाँ से दीपंकर, श्रीज्ञान आदि महान् पण्डितों के साथ गये हुये कुछ मूल ग्रन्थों को तो सुरक्षित रखा ही है, उनके साथ न जाने कितने ऐसे भारतीय ग्रन्थों को सुरक्षित रखा है, जिनकी मूल प्रतियाँ अब संस्कृत में प्राप्य नहीं है।

अश्वघोष का सारा बुद्ध-चरित्र तिब्बत में सुरक्षित है, हमें संस्कृत में केवल उसके १३ सर्ग ही प्राप्य हैं। राहुल जी द्वारा सम्पादित अभिधर्म कोष भी ऐसा ही एक ग्रन्थ है, जिसका उद्धार एक बेलजियन पण्डित ला-पुसिन ने किया था और जिसको और अधिक सँवार-माजकर अपनी टीका के साथ राहुल जी ने मुद्रित कराया।

तिब्बती लामाओं को कभी-कभी एक चर्खी सी घुमाते देखा होगा। हम लोग अपनी मालाओं पर जब तक १०८ मंत्र जपते हैं तब तक वहाँ उनके कागजों पर लिख-लिखकर उन डिब्बियों में बन्द मन्त्रों के न जाने कितने चक्कर हो जाते हैं? इस बात में मैं समझता हूँ कि तिब्बत का लामा बौद्ध-अबौद्ध सभी पर बाजी मार ले गया है।

चीन

चीन देश का बौद्ध-जीवन और विशेष रूप से 'भिक्षु-जीवन' अपनी विशेषता रखता है। सिहल, स्याम, बर्मा तथा तिब्बत को भी बौद्ध-धर्म ने जैसे अभिभूत कर लिया है, वैसे चीन को नहीं। चीन में बौद्ध-धर्म अपने दूसरे साथी धर्म ताउ तथा शिन्टो धर्म के साथ एक आदृत अतिथि की हैसियत रखता है।

जिस प्रकार चीनी भिक्षुओं के विहार प्रायः नगर से बाहर बने हुए हैं, उसी प्रकार चीनी-भिक्षुओं का जीवन भी जनता के जीवन से बहुत-कुछ अलग अलग-सा रहता है। वे ध्यान-मार्ग के विशेष अभ्यासी कहे जाते हैं।

यहाँ के कट्टर शाकाहारियो को यह बात बहुत प्रसन्न करेगी कि जहाँ एक सामान्य चीनी प्रायः सब कुछ खा जाता है, वहाँ चीनी भिक्षु बहुत ही कट्टर शाकाहारी होते हैं।

चीनी त्रिपिटक संस्कृत त्रिपिटक के ही आधार पर लिखा गया है और

अपने भाष्यों तथा आचार्यों द्वारा रचित स्वतंत्र ग्रन्थों के साथ एक विशाल वाङ्मय बन गया है। चीनी ग्रन्थ ऊपर से नीचे लिखे जाते हैं और किसी भी पुस्तकालय में वे खडे नही किये जा सकते। क्योंकि वे पडे ही रहते है।

हम अपने इतिहास के लिये चीनी यात्रियों ह्यून-सांग, फाहियान, ईत्सिग के कितने कृतज्ञ हैं।

कोरिया

कोरिया मे बौद्ध-धर्म चीन से गया है और उसका सब कुछ एक प्रकार से चीनी ही है। किसी भी बौद्ध-विहार में जाओ, वहॉ सव कुछ चीनी भापा में लिखा मिलेगा। हॉ, कोरिया की अपनी विशेषता है अधिक-से-अधिक तस्वीरो का प्रेम।

जापान

जापान ने भी कोरिया में बुद्ध-धर्म को स्थिरतर भित्ति पर खड़ा करने का प्रयत्न किया है।

जापान चीन की तरह बड़ा देश भी नहीं और कोरिया की तरह छोटा देश भी नही है, तो भी महत्वपूर्ण है ही। वहॉ न बौद्ध विहारों की कमी है और न बौद्ध-सम्प्रदायों की। सम्प्रदाय-भेद प्रायः चीन के अनुकरण पर है, क्योंकि जापान में बौद्ध धर्म चीन के ही ढङ्ग पर चालू है और वहीं से आया है।

चीन, कोरिया, जापान.. प्रायः तीनों देशों में छोटे-छोटे वच्चे विहारों में भर्ती कर लिए जाते हैं। उन्ही मे से अधिकाश वडे होकर 'भिक्षु' बनते हैं।

ब्राह्मणी-धर्म के घरबारी सन्यासियों की तरह जापान में विवाहित भिक्षु भी होते हैं।

जापान में एक वार पाश्चात्य की नकल करने की वाढ ऐसी तेजी से आई थी कि बौद्ध-धर्म उसमें एक प्रकार से वह ही चला था, किन्तु फिर उसका रुख पलट गया।

इधर तो जापान की तरुण बौद्ध समिति तथा अन्य समितियॉ देश से वाहर भी बौद्ध-धम के प्रचार में सलग्न हैं।
